विषय-सूची

विषय प्रवेश

मानव एक सामाजिक जीव है

लगभग ढाई हजार वर्ष बीत गये, यूनानी दार्शनिक अरस्तु ने मानव मनोवृत्तियों, उसके हृदय की प्रवृत्तियों का गंभीर अध्ययन कर सम्मति प्रकट थी कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है।

इतने वर्ष बीत गये, इस बीच सैकड़ों दार्शनिक संसार के भिन्न-न्न भागों में हो गये; किन्तु किसी ने अभी तक अरस्तु के मत का खंडन हीं किया, प्रत्युत जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, तैसे-तैसे आधुनिक काल के लन तथा यातायात के उन्नत साधनों की बहुलता के कारण दूर-दूर के देशों के वासियों की रहन-सहन, रीति-नीति, खान-पान और वेश-भूषा में थोड़ा-बहुत एक-रसता आने के साथ-साथ उनके भाव-विचारों में भी एक-रूपता आने लगी है। यहाँ तक कि सारे संसार के लोगों पर एक-रूपता की धुन सवार हो गयी है। अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान, वाणिज्य-व्यापार, यातायात, समाचार पत्र और पुस्तकों के प्रचार से इस भावना की और भी अभिवृद्धि हुई है। इस प्रकार कार्यतः अरस्तु की सम्मति समर्थित होने के साथ-साथ सैद्धान्तिक दृष्टि से आधुनिक काल के दर्शन, मनोविज्ञान जैसे नये-नये शास्त्रों द्वारा पुष्ट हो रही है।

मानव हृदय की मूल प्रवृत्तियाँ

मनोविज्ञान के पंडितों का कथन है कि प्रत्येक जीव अपने हृदय में कुछ सहज, जन्मगत प्रवृत्तियों को लेकर इस संसार में उत्पन्न होता है। इन प्रवृत्तियों की विलक्षणता यह है कि ये स्वाभाविक हैं, पृथ्वी का प्रकाश देखने

अनोखी सृष्टि द्वारा एक-आध राबिन्सन् क्रुसो या अलेक्ज़ाण्डर सेल्कर्क के अकेले जीवन व्यतीत करने की गप्प उड़ा दी जाती है। परन्तु परिणाम पर ध्यान देने से स्पष्ट होगा कि मानव समाज से अलग रह कर, अकेले जीवन निभाने के लिये बाध्य होने के कारण, अतृप्त वासनाओं की पोटली बाँध कर राबिन्सन् क्रुसो अन्त तक धार्मिक बन गया, जैसे शाहजी से विच्छिन्न हो अकेले जीवन व्यतीत करने के लिये शिवाजी की माता बाध्य होकर पूजा-पाठ और जप-तप करने में समय काटने लगी थी। उधर काउपर का अलेक्ज़ाण्डर सेल्कर्क यद्यपि अपने मन को भुलावा देने के लिये प्रारंभिक दशा में कभी-कभी कहा करता था—

"मैं जो कुछ देखता हूँ उन सबका मालिक हूँ। मेरे अधिकार में कोई हस्तक्षेप करने वाला नहीं है; इत्यादि", तथापि मन ही मन वह फिर से मानव समाज में लौटने के लिये आह भरा करता था।

सभा, समिति, संघ, पंचायत प्रभृति मानव प्रकृति से भी पुरानी मानी गयी हैं। अतएवः सामूहिक जीवन के व्यतीत करने से ही मानव प्रकृति का विकास होता है। प्रारंभिक दशा में मिलन तथा यातायात के साधनों की कमी के लिये लोक-मत किसी एक विशेष समुदाय ही में सीमित रहता था। गाँव-गाँव की रीति-नीति, रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा और भाव-विचारों में पृथकता होती थी। क्रमशः सामूहिक उत्तेजना का अनुभव करने और चेतना के उच्च स्तर तक पहुँचने के उद्देश्य से आमने-सामने होकर मिलने की प्रथा चल निकली। इसीलिये पाश्चात्य देशों में क्रीड़ा-कौतुक, मेले, उत्सव, सभा प्रभृति पर प्राचीन काल में अधिक बल दिया जाता था। ऐसे वातावरण में मानव मात्र का मन उन्नत और हृदय उदार होता था। आगे चल कर नाटक खेले जाने लगे। वहाँ रंगमंच पर सामयिक या ऐतिहासिक विषयों की चर्चा करते हुए लोग बातचीत करने की कला सीखने के अतिरिक्त कविता पाठ, वार्त्तालाप और नृत्य-गीत के प्रसंग में छन्दोबद्धता की विधा भी अपनाते थे। स्काउटिंग के प्रसंग में अग्न्युत्सव (कैम्प फायर) के उपलक्ष में अकेले का या सामूहिक संगीत, पाठ, अभिनय आदि करके पुरानी रीति-नीतियों को पुनर्जीवित किया जा रहा है। हमारे देश में वैदिक काल में इसी प्रकार समन नाम के सामाजिक जमाव, धर्म के

क्षेत्र में बड़े-बड़े यज्ञ-हवन, राजनीति के क्षेत्र में सभा-समिति और व्यापार के क्षेत्र में संभवतः श्रेणी प्रभृति होती थी। ऐसे अवसरों पर भिन्न-भिन्न मतों के लोग आमने-सामने मिल कर सामाजिकता के सुख का अनुभव करते थे तथा विचार- विमर्श द्वारा मतों में सामंजस्य स्थापित करते थे।

समूह का मनोविज्ञान

किसी भी भीड़ या जमाव में शारीरिक लगाव के साथ-साथ मानसिक एक-रूपता का उदय होता है। भीड़ की विलक्षणताएँ ये हैं—उसके कुल सदस्यों का ध्यान एक सामान्य विषय पर टिका रहता है। प्रतिक्रिया प्रबल होने के कारण कुल सदस्य शीघ्र ही आवेश में आ जाते हैं। इसी समय आस-पास के लोगों की मुख-भंगिमा, हाथ-पैर का संचालन, चिल्लाहट और कराह से वे और भी अधिक भावाविष्ट हो जाते हैं। सर्वोपरि अगल-बगल और आगे-पीछे के लोगों का धक्कम-धक्का, उनकी कोहनियों की रगड़ और शरीर के लगाव से वे अत्यधिक प्रभावित हो जाते हैं। ऐसी दशा में अन्ततः एक एक सदस्य अपने व्यक्तित्व को भूला कर संपूर्णतया जमाव का अंधा अनुयायी बन जाता है। जमाव में कभी मानव की बुद्धिमत्ता से आवेदन-निवेदन नहीं किया जाता। ऐसे अवसरों पर जनता में कुछ सामान्य भावनाएँ उभाड़ने की चेष्टा की जाती है। भावावेश में आकर लोग अपना व्यक्तित्व, स्वतंत्र चिन्तन की शक्ति, निजी चिन्ता और भावना भुला कर बिलकुल पराधीन बन जाते हैं तथा यंत्र-चालित कठपुतली जैसा बर्त्ताव करते हैं। अतः मनोविज्ञान की दृष्टि से जिस असयत जमाव में भावुकता की भरमार हो और जो सोच-विचार कर काम न कर प्राकृत प्रवृत्तियों के द्वारा प्रेरित हो अंधाधुंध काम करे उसी का नाम भीड़ है।

सामूहिक मन और व्यक्ति विशेष के मन में बहुत अन्तर नहीं है। भीड़ में अधिकतर मानव-चरित्र की ओछी प्रवृत्तियों का समावेश होता है। ऐसी परिस्थिति में एक सामान्य स्तर पर होने के लिये सभी सदस्य नीचे उतरते हैं।

सामूहिक मन की विलक्षणता इस बात में है कि दावाग्नि जैसी उसमें सामान्य किसी भावना की छूत-सी लगती है और पल भर में वह तेजी से फैल

जाती है। पारस्परिक चेतना तथा सहानुभूति एक-सी होने के कारण भीड़ का एक-एक सदस्य दूसरों को प्रभावित करता है। भीड़ का सदस्य बनते ही मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा-पद्धति से बिछुड़ कर एक अज्ञात वातावरण में हो लेता है। यहाँ उत्तेजना या सहम के वश में होकर वह दूसरों की भावनाओं को अपनाता है और भीड़ की देखादेखी भयभीत या क्रोधित होकर अंधाधुंध काम कर बैठता है।

आधुनिक काल के नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार, जैसे समाचार पत्र, छापाखाने, रेडियो प्रभृति द्वारा पहले से व्यापक स्तर पर जनता को प्रभावित किया जा रहा है। युद्ध छिड़ने पर राष्ट्र को जिन-जिन उपायों के द्वारा प्रभावित और उत्तेजित किया जाता है उसका थोड़ा-बहुत अनुभव हमें है। उसी प्रकार फुटबॉल की प्रतियोगिता में कुछ दर्शक खेल देखते-देखते इतना तन्मय हो जाते हैं कि वे अपना स्वतंत्र अस्तित्व तक भुला देते हैं। पुनश्च कुछ उदासीन दर्शक सहम कर भीड़ की देखादेखी उसके साथ कदम मिलाकर चलने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार क्रमशः खेल के मैदान का सारा वातावरण अस्वाभाविक उत्तेजना और उत्साह से भर जाता है।

सैनिकों की भाँति जिस काम को करने में लोग अभ्यस्त हैं, या जिसको करने के पहले उन्होंने भलीभाँति सोच-विचार लिया हो, वहाँ भगदड़ नहीं मचती। भीड़ में दोनों बातों की कमी होती है। संघटित न होने के कारण वह झट् सामूहिक उत्तेजना का शिकार बन जाती है। निकम्मे और अलस व्यक्तियों के मन में रुक-रुक कर जो हिंसा, द्वेष और डाह की भावनाओं का उदय होता रहता है, किंतु वातावरण के प्रतिकूल होने के कारण उन्हें दबा रखना पड़ता है, सुयोग के मिलते ही सामूहिक अत्याचार के रूप में ये भावनाएं आत्म-प्रकाश करती हैं। अपने देश का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

मुग़ल साम्राज्य के विघटन के बाद कई कारणों से राजनीति और अर्थनीति के क्षेत्रों में धीरे-धीरे मुसलमानों की पूछताछ कम होती गयी। फलतः अंग्रेजी शासनकाल में परिश्रमी तथा उत्साही हिन्दू प्रतिद्वन्द्वियों के आगे मन ही मन कुढ़ते हुए, वे प्रतिदिन दबते गये। अन्त में जिला प्रमुख कुछ इने-गिने

मुस्लिम नेताओं के उकसाने से उनमें साम्प्रदायिक जागरण हुआ। इसका नारा बना हिन्दू विद्वेष! निदान सन् १९४७ के पहले और बाद में जो साम्प्रदायिक दंगे देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में होते रहे, उनका मुख्य उद्देश्य हिन्दुओं से बदला चुकाना था। इसका कारण यह था कि अबोध मुसलमान जनता के मन में इस प्रकार की एक भ्रान्त धारणा जमा दी गयी थी कि हिन्दुओं का नाश करने पर ही मुसलमानों का सितारा चमक सकता है। इसी धारणा का चरम विन्दु था पाकिस्तान की रचना! पाकिस्तान बना, किन्तु हाय-हाय बना ही रहा। उसी प्रकार धार्मिक आन्दोलन भी देहाती क्षेत्रों में अधिक जोर पकड़ते देखा जाता है। क्रियाशील और व्यस्त नागरिकों पर इसका प्रभाव कम होता है।

प्राचीन काल में धार्मिक सम्मेलन और लोकोत्सव उन्नततर, सांस्कृतिक जीवन के द्योतक थे। आधुनिक काल में भी पिछड़ी हुई जातियाँ और अलस प्रकृति के मनुष्यों के लिये यही नियम लागू है। नगरों में सामाजिक सम्मेलनों में लोग सामूहिकता तथा भावुकता के सुखों का आस्वादन करते हैं। ऐसे जमघटों में कविता-पाठ, नृत्य-गीत और व्याख्यान सुनकर लोग कूपमण्डूकता को त्याग कर सहयोगिता और सद्भावना की नयी भूमि की झाँकी प्राप्त करते हैं।

निर्देश[1]

ऐसी बातों को जिनका खंडन-मंडन न हुआ हो, सच कह कर मान लेना—यह मानव के मन की एक विलक्षणता है। भीड़ या जन-गण संबंधी मनोविज्ञान निर्देश की क्रिया पर आधारित है।

ऊपर कहा जा चुका है कि स्वभावतः तथा जन्मतः मानव सामाजिक जीव है। उसके मन की बनावट ही इस प्रकार की है कि औरों से जो निर्देश उसे प्राप्त होता है, उससे वह तुरंत प्रभावित होता है और उसीके साँचे में वह अपने मत को ढालता है या कोई कार्य करता है। परन्तु शिक्षित व्यक्तियों के मन में नाना प्रकार की चिंताओं का उदय होता है। वे एक ही भावना के दास

---

[1] सजेशन्

हीं बने रहते उनके मन में दो या उससे अधिक विरोधी भावनाओं की सदा स्सा-कशी चलती रहती है। इससे वे अंधाधुंध कोई काम करते नहीं। प्रत्येक काम करने के पहले वे भलीभाँति सोच-विचार लेते हैं। इसके विपरीत असंस्कृत मनों में चिन्ता या भावनाओं की विचित्रता नहीं होती; न उनके मन में विरोधी भावनाओं का ही उदय होता है। अतः शक्तिमान् तथा प्रभावशाली स्रोत से जो भी कुछ सुझाव मिलता है, वे उसीके अनुसार काम कर बैठते हैं।

इस प्रकार जब हम औरों का मत, विचार या सुझाव को बिना सोचे-विचारे, आँखें बन्द कर मान लेते हैं और उसके अनुसार अपने मत का निर्माण करते हैं, या काम करने लगते हैं, उसीका नाम मनोविज्ञान शास्त्र में निर्देश दिया गया है। निर्देश युक्ति या तर्क पर आधारित नहीं होता।

बहुतों ने कभी न कभी संमोहन (हिप्नोटिज़म) के चमत्कारों का दर्शन किया है। निर्देश की चरम दशा का नाम है हिप्नोटिज़म्। बार-बार एक ही प्रकार का सुझाव देकर जादूगर अभिभावित पात्र के शरीर के कुल अंग-प्रत्यंगों को अपने वश में कर लेता है। उसके दिये हुए सुझावों का प्रतिरोध करने तक की शक्ति उस पात्र में नहीं रह जाती। उसके कहने पर वह अपनी आँखें तक खोल नहीं सकता, हाथ-पैर हिला नहीं सकता, ताश में अपने भाई का फोटो देखने लगता, दिन दोपहर को रात मानने लगता, किसी पशु का हीन अनुकरण करने लगता अथवा जादूगर के कहने से खून-खराबी भी कर बैठता है।

इस प्रकार मुँह से निकले हुए शब्दों द्वारा औरों को वश में लाने की विधा का नाम निर्देश है।

प्रति दिन औरों के निर्देश से हम उनके मतों को अपनाते हैं; कोई विशेषज्ञ जो भी कुछ कह देता है उसे बिना विचारे वेद वाक्य—जैसा मान लेते हैं; समाचार पत्र पढ़ कर सम्पादक या दल विशेष की सम्मतियों को अपनाते हैं; अपने शरीर के विषय में दूसरों का मन्तव्य सुनकर मन ही मन में उतावले बन जाते हैं; मित्रों के साथ बात चीत करने के बाद प्रान्तीय मंत्रियों के बारे में सम्मति प्रकट करने लगते हैं; घरवालों की राय सुन कर उचित-अनुचित बहुत

मुस्लिम नेताओं के उकसाने से उनमें साम्प्रदायिक जागरण हुआ। इसका नारा बना हिन्दू विद्वेष! निदान सन् १९४७ के पहले और बाद में जो साम्प्रदायिक दंगे देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में होते रहे, उनका मुख्य उद्देश्य हिन्दुओं से बदला चुकाना था। इसका कारण यह था कि अबोध मुसलमान जनता के मन में इस प्रकार की एक भ्रान्त धारणा जमा दी गयी थी कि हिन्दुओं का नाश करने पर ही मुसलमानों का सितारा चमक सकता है। इसी धारणा का चरम बिन्दु था 'पाकिस्तान की रचना! पाकिस्तान बना, किन्तु हाय-हाय बना ही रहा। उसी प्रकार धार्मिक आन्दोलन भी देहाती क्षेत्रों में अधिक जोर पकड़ते देखा जाता है। क्रियाशील और व्यस्त नागरिकों पर इसका प्रभाव कम होता है।

प्राचीन काल में धार्मिक सम्मेलन और लोकोत्सव उन्नततर, सांस्कृतिक जीवन के द्योतक थे। आधुनिक काल में भी पिछड़ी हुई जातियाँ और अलस प्रकृति के मनुष्यों के लिये यही नियम लागू है। नगरों में सामाजिक सम्मेलनों में लोग सामूहिकता तथा भावुकता के सुखों का आस्वादन करते हैं। ऐसे जमघटों में कविता-पाठ, नृत्य-गीत और व्याख्यान सुनकर लोग कूपमण्डूकता को त्याग कर सहयोगिता और सद्‌भावना की नयी भूमि की झाँकी प्राप्त करते हैं।

निर्देश[1]

ऐसी बातों को जिनका खंडन-मंडन न हुआ हो, सच कह कर मान लेना—यह मानव के मन की एक विलक्षणता है। भीड़ या जन-गण संबंधी मनोविज्ञान निर्देश की क्रिया पर आधारित है।

ऊपर कहा जा चुका है कि स्वभावतः तथा जन्मतः मानव सामाजिक जीव है। उसके मन की बनावट ही इस प्रकार की है कि औरों से जो निर्देश उसे प्राप्त होता है, उससे वह तुरंत प्रभावित होता है और उसीके साँचे में वह अपने मत को ढालता है या कोई कार्य करता है। परन्तु शिक्षित व्यक्तियों के मन में नाना प्रकार की चिंताओं का उदय होता है। वे एक ही भावना के दास

---

[1] सजेशन्

नहीं बने रहते उनके मन में दो या उससे अधिक विरोधी भावनाओं की सदा रस्सा-कशी चलती रहती है। इससे वे अंधाधुंध कोई काम करते नहीं। प्रत्येक काम करने के पहले वे भलीभाँति सोच-विचार लेते हैं। इसके विपरीत असंस्कृत मनों में चिन्ता या भावनाओं की विचित्रता नहीं होती; न उनके मन में विरोधी भावनाओं का ही उदय होता है। अतः शक्तिमान् तथा प्रभावशाली स्रोत से जो भी कुछ सुझाव मिलता है, वे उसीके अनुसार काम कर बैठते हैं।

इस प्रकार जब हम औरों का मत, विचार या सुझाव को बिना सोचे-विचारे, आँखें बन्द कर मान लेते हैं और उनके अनुसार अपने मत का निर्माण करते हैं, या काम करने लगते हैं, उसीका नाम मनोविज्ञान शास्त्र में निर्देश दिया गया है। निर्देश युक्ति या तर्क पर आधारित नहीं होता।

बहुतों ने कभी न कभी संमोहन (हिप्नोटिज्म) के चमत्कारों का दर्शन किया है। निर्देश की चरम दशा का नाम है हिप्नोटिज्म। बार-बार एक ही प्रकार का सुझाव देकर जादूगर अभिभावित पात्र के शरीर के कुल अंग-प्रत्यंगों को अपने वश में कर लेता है। उसके दिये हुए सुझावों का प्रतिरोध करने तक की शक्ति उस पात्र में नहीं रह जाती। उसके कहने पर वह अपनी आँखें तक खोल नहीं सकता, हाथ-पैर हिला नहीं सकता, [illegible] में अपने भाई का फोटो देखने लगता, दिन दोपहर को रात मानने लगता, किसी पशु का रूप अनुकरण करने लगता अथवा जादूगर के कहने से मूत्र-त्यागादि भी कर बैठता है।

इस प्रकार बोले या लिखे हुए शब्दों द्वारा दूसरों के मन के [illegible] क्रिया का नाम निर्देश है।

प्रति दिन लोगों के निर्देश से हम [illegible]

से काम कर बैठते हैं। दुकानदार बार-बार जोर दे कर दोहराकर गाहकों को ठगते हैं; नीलाम करने वाला सरकारी बोली बोलते और एक-दो-तीन करते हुए कम दाम की वस्तु अधिक मूल्य पर बेचता है; पाकिस्तान के जन्मदाताओं ने ऊँचे स्वर में बार-बार झूठी बातों को दोहरा कर द्वि-जाति-वाद के सिद्धान्त को सभी से मनवा ही लिया! वैसे ही धीरे-धीरे मीठी बातें बोल कर नट-खटी बालक को मनाने की चेष्टा की जाती है या शत्रु को काबू में लाया जाता है। थोड़े में लोगों को निर्देशित करने के लिये यह परमावश्यक है कि हम जो भी कुछ कहें उसे बल देकर बोलें जिससे सुनने वालों के मन में विश्वास उत्पन्न हो और उसीको बार-बार उसी ढंग से दोहराते भी चलें।

यह नहीं समझना चाहिये कि केवल चिकनी-चुपड़ी बोली बोल कर हम औरों को प्रभावित कर सकते हैं। औरों को उचित ढंग से प्रभावित करने के लिये यह आवश्यक है कि उनके मन का झुकाव भी प्रभावित होने की ओर हो। उनका मानसिक आग्रह, भावना तथा प्रवृत्तियों को आधार बना कर ही हम औरों को प्रभावित कर सकते हैं। विज्ञापन के चमत्कार पर थोड़ा ध्यान दिया जाय। जिधर दृष्टि फेरी जाय उधर ही विज्ञापनों की झड़ी दिखायी देती है। बार-बार एक ही बात को दोहरा कर वे गाहकों के मन में विश्वास जमाते हैं। मकानों की भीत पर, सड़कों की सतह पर, समाचार पत्रों में, बस में, ट्राम में, रेल के डब्बों में-वही एक बात! बहुधा देखा जाता है कि आवश्यकता न रहने पर भी विज्ञापनों के चक्कर में आकर हम लोग बिलकुल अनावश्यक वस्तु भी खरीद लेते हैं। परन्तु स्मरण रखना चाहिये केवल ऐसे ही व्यक्ति विज्ञापन के चक्कर में आते हैं जिनके मन का झुकाव खरीदने की ओर हो। बिलकुल तटस्थ या निर्धन व्यक्ति पर विज्ञापनों का प्रभाव कम होता है। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि पहले घटित घटनाओं द्वारा हमारे मन में विश्वास जम जाता है। ऐसी दशा में बाहर से निर्देश मिलते ही हमारे मन की भावना क्रिया के रूप में व्यक्त होती है। प्रायः देखा जाता है एक आदमी के जंभाई लेते ही उसके आस-पास के मनुष्य भी जंभाई लेने लगते हैं। इस विलक्षणता को सहानुभूति सूचक जंभाई कहते हैं। परन्तु यह धारणा भ्रममूलक है।

यह तभी होता है जब वे थके-मांदे और जंभाई लेने वाले ही थे। उसी समय बाहर से निर्देश मिलते ही उनके बगल वाले भी अपनी थकावट को क्रिया द्वारा प्रकट करने लगे।

पुनः कभी-कभी देखा जाता है कि औरों को क्रियाशील देखने से हम और अधिक उत्साह और आग्रह के साथ काम करने लगते हैं। इसका रहस्य यह है कि प्रारंभिक दशा के निर्देश की प्रतिक्रिया स्वरूप हम काम करने लगे थे। फिर उसी निर्देश द्वारा औरों को प्रभावित होते देख हमारे ऊपर उसकी प्रतिक्रिया प्रबल हो गयी।

सामूहिक निर्देश

जब जान बूझ कर कोई मनुष्य दूसरे के मन को प्रभावित करता है तब उस क्रिया का नाम निर्देश है। इसके विपरीत जो निर्देश कोई सामाजिक जीव समाज की ओर से प्राप्त करता है, उसका नाम सामूहिक निर्देश है। मानव हृदय में सामाजिकता की प्रवृत्ति के होने के कारण वह सामूहिक निर्देश के वश में हो लेता है। इसी निर्देश द्वारा प्रभावित होकर मनुष्य कदाचित् समाज विरोधी काम करता है, समाज के सदस्यों की सामूहिक भावना के प्रति सहानुभूतिशील होता है तथा लोक-मत के प्रति श्रद्धालु होता है। इन भावनाओं के होने से प्रत्येक देश के समाज के सदस्यों की क्रिया-धारा और प्रवृत्ति की एकरूपता होती है; परंपरा से प्राप्त नैतिक ज्ञान का संरक्षण होता है तथा [illegible] कुछ ऐसे विषय हैं जिन्हें हम कभी सोचते-विचारते नहीं, प्रत्युत जिन्हें स्वयं-सिद्ध मानते हैं—समाज हमारे लिये निर्धारित करता है।

इसी प्रकार मंदिरों में दर्शन करने के लिये जाते [illegible] में देर तक स्थिर बैठे रहने से लोग सात्त्विक से हो जाते हैं। [illegible] और [illegible] की किरणें, घंटों की टन-टन ध्वनि, [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] संस्कार का [illegible]—सभी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हैं।

इसी प्रकार [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

वालों, तथा अध्यापक छात्र-मंडली को सर्वदा प्रभावित करते हुए पाये जाते हैं। उस विषय में ज्ञान की कमी होने के कारण सुनने वाले या विद्यार्थी भी मन लगा कर मंत्र-मुग्ध के समान सुनते रहते हैं। परन्तु इस प्रकार के अध्यापन से विद्यार्थियों की जिज्ञासा-शक्ति घटने लगती है तथा युक्ति-तर्क को ताख पर रख, स्वभाव के वे अंध-विश्वासी बन जाते हैं।

वैसे ही ऐसा धर्म मत जो अपने अनुयायियों की चेतना या अनुभव पर आधारित नहीं है तथा उनकी जिज्ञासा की प्रवृत्ति को बढ़ावा नहीं देता, थोड़े ही दिनों में उन्हें अन्ध-विश्वासी और कट्टर बना देता है।

निज को संमोहित करना

घर का फर्श बन जाने पर जब तक वह कच्चा रहता है प्रायः देखा जाता है, राजगीर ईटें खड़ी कर आने-जाने के लिये एक सँकरा तख्ता बिछा देते हैं। ऐसे तख्ते पर से होकर यातायात करना कोई कठिन बात नहीं। परन्तु वही तख्ता यदि भूमि की सतह से सैकड़ों फीट की ऊँचाई पर बिछा दिया जाय और किसी को उसी पर से चल कर दो पहाड़ों के बीच में स्थित किसी खड्ड को पार करना पड़े, तो ऐसे मनुष्य के लिये गिर पड़ना निःसन्देह स्वाभाविक है। गिर जाने की विभीषिका उसके मन को इतना अभिभूत कर देती है कि उसके बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी वह अपने को गिरने से रोक नहीं सकता। यह है आत्म-संमोहन की करतूत! उसी तख्ते पर से चल कर खड्ड पार करने के लिये यह परमावश्यक है कि पार करने वाले का ध्यान न तो उसकी ऊँचाई पर रहे, न उसकी तंगी पर हो और न उस तख्ते पर जमे रहने के प्रयास पर ही हो—प्रत्युत तख्ते के उस पार पहुँचने की क्रिया पर होना चाहिये। तभी वह मनुष्य आत्म-संमोहन के चंगुलों से छुटकारा पा सकता है, अन्यथा नहीं।

संमोहित करने की पात्रता

सब लोगों को संमोहित या प्रभावित करने के लिये एक कोई विशेष नियम लागू नहीं किया जा सकता। वातावरण की विभिन्नता से अलग-अलग मनुष्यों पर इसकी प्रतिक्रिया कुछ और ही होती है। संमोहित करने वालों के

आगे पात्र सदा दबते, झुकते या नम्रता का बर्त्ताव करते हैं। उच्च पदाधिकारी, हेकड़ों और समाज के प्रमुखों के द्वारा क्रमशः निम्न श्रेणी के कर्मचारी, दुबले-पतले और निर्धन प्रायः प्रभावित होते हैं। देखा गया है कि वयस्क व्यक्तियों के आगे बच्चे दबते हैं तथा पुरुषों से स्त्रियाँ शीघ्र मान जाती हैं। उसी प्रकार गुट के आगे अकेला आदमी दबता है तथा उससे विनय का बर्त्ताव करता है।

भीड़ और संमोहन

निर्देश की कुल विलक्षणताएँ व्यापक स्तर पर भीड़ में पायी जाती हैं। एक ही उद्देश्य से प्रेरित होकर जनता एक नियत स्थान में निश्चित समय पर किसी एक काम को करने के लिये उपस्थित होती है, नेता का ओजस्वी व्याख्यान या उसी प्रकार का कोई निर्देश भीड़ का जोश उभाड़ता है और क्षण भर में वह 'पहाड़ों को लाँघने एवं समुद्रों को पाटने को तैयार हो जाती है। आदेश मिलने पर या कुछ सदस्यों की क्रिया देख कर शेष लोग उनका अनुकरण करने के लिये उद्यत हो जाते हैं और अन्त में अगल बगल के सदस्यों को क्रियाशील देख तथा उनकी बोल-चाल सुनकर और उनकी कोहनी और शरीर की रगड़ खाकर भीड़ का एक-एक सदस्य बिलकुल अभिभूत-सा हो जाता है और स्वतंत्र चिन्तन की शक्ति को तिलाञ्जलि देकर मंत्र-मुग्ध जैसा भीड़ का अनुकरण करने के लिये प्रस्तुत हो जाता है।

प्राचीन काल में हमारे देश में दंगे-फसाद के उपलक्ष्य में शायद ही कभी भारी भीड़ जमती रही हो। इसका मुख्य कारण देश का विस्तार तथा मिलन एवं यातायात की कमी थी। राजनैतिक कारणों से जन-आन्दोलन कदाचित् हुआ हो। इसके विपरीत गौतम बुद्ध के समय जन-जागरण का थोड़ा बहुत आभास मिलता है। उन दिनों धर्म के क्षेत्र में जिज्ञासा की जो लहर उमड़ पड़ी थी, उसे केन्द्र मानकर बहुत से धार्मिक संप्रदायों का संघटन हुआ था। इन संप्रदायों की सदा तनातनी बनी रहती थी; किन्तु इसके कारण कभी दंगा-फसाद या मार-पीट होती थी, इसका पता नहीं चलता। सातवीं शती में प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम पर हर्षवर्धन के तत्त्वावधान में जो महामोक्षपरिषद् होती

थी, उसके उपलक्ष्य में वहाँ लाखों की भीड़ जमती थी, किन्तु उस जमाव में अधिक से अधिक व्यक्ति प्रार्थी होते थे, जो दान लेने के अभिप्राय से वहाँ पहुँचते थे। पुनः आठवीं और नवीं शती में विकृत बौद्ध मत के विरुद्ध कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य प्रमुख प्रख्यात महापुरुषों ने जो आन्दोलन खड़ा किया था—वह भी बहुधा बौद्धिक था। इसके द्वारा जनमत अवश्य प्रभावित हुआ था, किन्तु कोई दंगा-फसाद या धर्म-युद्ध के होने का पता नहीं चलता। ग्यारहवीं शती में महीपाल (२) के विदेशी सहायकों के विरुद्ध दिव्योक केवट के विद्रोह का कोई स्थायी परिणाम नहीं निकला। शीघ्र ही रामपाल ने दिव्योक के भाञ्जे भीम को दबा दिया। ऐसी दशा में हमारे देश के प्राचीन काल के इतिहास में कहीं भी फ्रांसीसी क्रान्ति, अमेरिकावालों का स्वातंत्र्य संग्राम या रूसी क्रान्ति जैसी अनियंत्रित जनता की उद्दण्डता का उदाहरण नहीं मिलता। भीड़ की नासमझ कार्यवाही आधुनिक काल के इतिहास का अंग है।

हमारे देश के प्राचीन इतिहास में यद्यपि राजनीतिक क्षेत्र में जन-जागरण का निदर्शन नहीं मिलता, तथापि धार्मिक या सामाजिक उत्सवों में हजारों की भीड़ कभी-कभी जमती थी—ऐसा अनुमान करना असंगत नहीं होगा। यदि सच पूछिये तो आदिम काल से उत्सव और मेलों ने प्रत्येक देश के जातीय जीवन को विकसित करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। इनकी सामाजिक और अर्थनैतिक उपयोगिता के अतिरिक्त सभी दर्शक तथा उनकी कार्यवाही में भाग लेने वाले व्यक्ति एक ही बात को ध्यान में रख कर वहाँ पहुँचते हैं, सभी यह चाहते हैं कि वह उद्यम सफल रहे। इस दृष्टि से उत्सव और मेलों को एक सुर में बँधे हुए हृदयों का पुण्य सम्मेलन कहने में अत्युक्ति न होगी।

सामान्य रूप से उत्सव और मेले देश के प्रचलित धर्म से संबद्ध होते हैं—चाहे उनका रूप-रंग जैसा भी हो। वे होली या दीवाली के पर्व जैसे राग-रंग से भरे हो सकते हैं अथवा शिव-रात्रि और जन्माष्टमी के समान शान्त और गंभीर भी हो सकते हैं। धर्म-हीन समाज में उत्सवों की गुंजाइश कम है, फिर मनाया जाय भी तो वह शासक के मौज पर निर्भर होता है और अन्ततः निरर्थक

सिद्ध होता है। किसी भी धर्म के विकास के साथ-साथ त्योहारों की अभिवृद्धि होती है तथा प्रत्येक पर कुछ विशेषता की छाप लगा दी जाती है। सभ्यता की अग्रगति के साथ-साथ उत्सव और त्योहारों की संख्या बढ़ती जाती है, विधि-विधान द्वारा उन्हें समृद्ध किया जाता है, तथा उनके मनाने का समय और क्रम भी नियत कर दिया जाता है।

प्राचीन काल की सभी जातियों में एक विशेषता पायी जाती है। वह यह कि प्रति वर्ष नियत दिन पर वे मृतकों के प्रति श्रद्धा निवेदन करते थे। ब्रह्मा की 'कारेन' जाति के लोग सामान्यतया मृत संबंधियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के अतिरिक्त प्रति वर्ष निश्चित तिथि पर वार्षिक श्राद्ध करते हैं; नागा जाति के लोग मृतकों के सम्मान में मासिक श्राद्ध करते हैं; मेक्सिको घाटी के आदिम निवासी अपने स्वर्गगत संबंधियों की स्मृति में प्रति वर्ष नवम्बर में उनकी समाधियों पर फूल-माला और खान-पान की सामग्री रख देते हैं; चीन के निवासी दिसंबर में वार्षिक श्राद्ध करते हैं; पेरू के आदिम निवासी प्रति वर्ष नियत दिन पर चौमुहानियों पर अपने स्वर्गीय शासकों के परिरक्षित शव को पधरा कर उत्सव मनाते थे; यूनानी नेकूसिया तथा रोमन लोग फेरालिया या लेमुरालिया के अवसर पर मृतकों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते थे; मिश्र के लोग ऋतु-परिवर्त्तन के अवसर पर प्रति वर्ष तीन बार श्राद्धादि करने के अतिरिक्त मासिक और पाक्षिक श्राद्ध भी करते थे; पारसी लोग साल में छः बार मृतकों के सम्मान में अफ्रिंगन नाम के कृत्यादि करते थे; हम लोग अभी तक मृतकों के संमान में वार्षिक श्राद्ध करने के अतिरिक्त क्वार के पितृ-पक्ष में श्राद्ध-तर्पण प्रभृति करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक जाति में अलग-अलग पंचांग बनाने की रीति चल निकली। प्रारंभिक दशा में अतीव सरल होने के कारण चान्द्र संवत्सर का उपयोग किया जाने लगा; पश्चात् सौर मत के अनुसार तिथि प्रभृति निर्धारित की जाने लगी तथा ग्रह-नक्षत्रों के आवर्त्तन के अनुसार उत्सवादि मनाये जाने लगे।

प्रति वर्ष अपने-अपने कुटुम्ब के मृतकों के प्रति श्रद्धा निवेदन करने के अतिरिक्त प्राचीन काल में लोग किसी जातीय वीर या धार्मिक नेता के प्रति

सम्मान प्रदर्शित करने के लिये उत्सव मनाते थे। जैसे आज तक हम लोग जन्माष्टमी, राम-नवमी, तुलसी जयन्ती प्रभृति मनाते हैं।

इनके अतिरिक्त ऋतु-परिवर्त्तन की घटना भी प्राचीन काल में बड़े समारोह के साथ मनाने की प्रथा थी; जैसे अभी तक हम लोग दीवाली, होली प्रभृति के त्योहार मनाते हैं।

फिर प्राचीन काल में कृषि-संबंधी काम-धंधों का, जिसमें सामान्यतः दस-पाँच मनुष्यों के सहयोग की आवश्यकता होती है, सूत्रपात उत्सव के द्वारा करने की चाल थी। वैदिक काल में जोताई का काम आरंभ करने के पहले इस प्रकार का कुछ अनुष्ठान किया जाता था। पालि साहित्य तथा पुराणों में भी इस प्रथा का उल्लेख आया है।

हमारे देश में वैदिक काल में ऋतु-परिवर्त्तन की घटना नये-नये यज्ञों का श्रीगणेश करके मनाने की प्रथा थी। महत्त्वपूर्ण यज्ञादि वसंत काल में, उत्तरायण के समय किये जाते थे। फीनीशियन जाति के लोग भी सौर संवत्सर के अनुयायी थे; उनके मुख्य-मुख्य त्योहार वसंत और शरत् काल में मनाये जाते थे। प्राचीन मिश्र के निवासी ओसिरिस के अन्तर्धान होने की घटना शरत् काल में, उसके शव देह का आविष्कार दक्षिणायन में और उसके चन्द्र मंडल में विलीन होने की घटना वसन्त काल में समारोह के साथ मनाते थे। फ्रिजीयन देव-देवी दक्षिणायन में सोते और उत्तरायण में जागते रहते थे। अतः शरत् काल में वे उनका शयन महोत्सव मनाते थे तथा वसंत काल में नृत्य-गीत और आमोद-प्रमोद करते हुए वे उनको जगाते थे। उसी प्रकार ट्युटन लोगों का ओस्टर्ण, केल्ट वालों का वेलटीन और स्कारिडनेविया वालों का यूल के सम्मान में मनाये जाने वाले उत्सव ऋतु-परिवर्त्तन की घटना से संबद्ध थे।

प्राचीन यूनानियों के बारे में स्ट्राबो ने कहा है कि वे जितने दिन काम-धंधा करते थे, उनसे कहीं अधिक दिन छुट्टी मनाते थे। प्राचीन यूनान के प्रत्येक जिले के विशेष विशेष-त्योहार होते थे। एथेन्स में प्रति वर्ष उत्सवों के उपलक्ष्य में ५० से ६० दिन तक कुल सरकारी काम-काज बन्द रहते थे। ईलियड में

होमर ने अटिका में इरेक्‌थिऊस् के सम्मान में मनाये जाने वाला वार्षिकोत्सव, फसल संबंधी उत्सव, तथा ओडेसी में अमावास्या को मनाये जाने वाला उत्सव का उल्लेख किया है। इस प्रकार प्रति मास ३।४ उत्सव मनाये जाते थे। इन में से कुछ तो ऐतिहासिक घटनाओं की स्मृति में, कुछ पूर्वजों के सम्मान में मनाये जाते थे, शेष ऋतु-परिवर्त्तन प्रभृति घटनाओं से संबद्ध थे। इनमें जनवरी में मनाये जाने वाला लिनोई नाम के मदिरा बनाने का उत्सव; फरवरी में डायनीसस् के सम्मान में मनाये जाने वाला तीन दिन-व्यापी महोत्सव, और ज़ोउस के सम्मान में डिएसिया; मार्च में ज़ीऊस का पाखिडया; एप्रिल में आरटिमिस का मनीशिया और एपोलो का डेलफीमिया; मई में एथिनी का प्लिन्टीरिया, जून में ज़ीऊस का डाईपोलिया; जुलाई में एपोलो के सम्मान में वृष-बलि; अगस्त में एपोलो के सम्मान में भारी मेला; सितम्बर में मृतकों के सम्मान में नेकूसिया; अक्टूबर में एथिनी के सम्मान में एथीनिया; नवम्बर में ज़ीऊस के सम्मान में उत्सव; और दिसम्बर में डायोनीसिया के उत्सव मुख्य माने जाते थे।

प्राचीन रोमन लोगों में उत्सव का नाम 'फेस्टि' था। पूजन, बलिदान, सहभोज और खेल-कूद के द्वारा उत्सव मनाने की रीति थी। शाही शासन काल में सम्राटों के आदेश से उत्सवों की संख्या बहुत बढ़ गयी थी। इनमें फरवरी १५ को लुपरसेलिया मनाया जाता था। यह उत्सव सब से प्राचीन था, तथा उपज के देवता लुपरकस के सम्मान में मनाया जाता था। फरवरी २७ को युद्ध के देवता मार्स के सम्मान में इक्वीरिया; एप्रिल २१ को पलीलिया; सितम्बर ४ को जुपिटर, जूनो और मिनर्वा के सम्मान में लुदी मागनी और दिसम्बर के अन्तिम दिनों में साटरनेलिया समारोह के साथ मनाये जाते थे।

यहूदी लोग चान्द्र संवत्सर के अनुयायी थे। उनके उत्सव प्रभृति शरत् और वसन्त काल में मनाये जाते थे। वसन्त में पासओवर, पेन्टिकोस्ट तथा शरत् काल में प्रायश्चित्त का दिन, तुरही का भोज तथा टावरनेकलस् इत्यादि मनाये जाते थे।

पूर्व वैदिक काल के उत्सव

प्राचीन काल में सप्त-सिंधु (अफ़ग़ानिस्तान, पञ्जाब, कश्मीर प्रभृति) प्रान्त में वैदिक काल के आर्यों की धाक जमने के पहले बहुत से आदिम निवासी रहते थे। ये छोटी-छोटी जन-जातियाँ अथवा समुदायों में विभक्त थे। ऋग्वेद में ऐसे कुछ समुदायों के नाम मिलते हैं, जैसे असुर[१], पणि[२], शण्डिक[३], रक्षस्[४], सिम्यु[५], सनक[६], हुरिश्चित्[७] इत्यादि। इनके अतिरिक्त आज कल जिन्हें हम नेग्रिटो, कोल और द्रविड़ जाति के लोग कहते हैं, वे भी भारत के भिन्न-भिन्न भागों में रहते थे। उसी प्रकार वैदिक काल के आर्यों ने जिनका नाम 'दास' या 'दस्यु' दिया था, उनके भी बहुत से समुदाय थे (दासीविशः)[८]। प्रत्येक जन-जाति का एक एक प्रधान होता था। इस प्रसंग में ऋग्वेद का कथन है कि सम्बर[९], सुष्ण[१०], तुग्र[११], चुमुरि[१२], बृहद्रथ[१३] प्रभृति बड़े प्रख्यात जन-नायक हो गये। उनके सैकड़ों की संख्या में सुदृढ़ गढ़[१४] होते थे—इनमें से कुछ तो पत्थर के बने हुए[१५] थे, और कुछ लोहे के (पुर आयसीनिः)[१६] थे। वे पशुपालन करते थे[१७], तथा बड़े मालदार होते थे[१८]। युद्ध करते समय वे माया का उपयोग करते थे[१९]। उनकी बोली आर्यों की समझ में नहीं आती थी, अतः वे उनको 'बड़बड़ाने वाले' (मृध्रवाचः) कहते थे[२०]। उनका एक निजी धर्म भी था जिसके अनुसार वे आर्यों से भिन्न प्रकार के व्रतों का पालन (अन्यव्रताः)[२१] करते थे। इस प्रसंग में कहा गया है कि वे शिव भगवान् की

---

१ १०।१५९।३;
२ १।७१।२;
३ १।३०।६;
४ १।१२।५;
५ १।१००।१८
६ १।३३।४;
७ ९।९८।११;
८ २।११।४;
९ १।५९।६:
१० १।११।७;
११ १।११७।१४;
१२ २।१५।९;
१३ ५।८०।२;
१४ १।१०३।३;३।१२।६;
१५ ४।३०।२०;
१६ २।२०।८;
१७ १०।६२।१०;
१८ १।३३।४;
१९ ४।१६।९;
२० ७।६।३;
२१ ८।७०।११;

लिंगमूर्त्ति का पूजन करते थे[१]। भिन्न धर्म मत के होने के कारण आर्य लोग उन्हें धर्महीन या देव रहित[२], यज्ञहीन[३], मंत्रहीन, अमानुष प्रभृति कह कर गालियाँ देते थे। दासों की भाँति दस्यु जाति के लोगों को भी संशयी[४], अनग्नि[५], अयज्वान[६] इत्यादि कहा गया है। असुरों के बारे में कहा गया है कि वे रंग के काले होते थे[७], भव्य नगरों में रहते[८] तथा बड़े धनी होते थे[९]। इस लिये सुष्ण के वीर गति प्राप्त करने के बाद इन्द्र ने उसके नगरों में लूट-खसोट की[१०]। वृत्र के अनुयायी सर्वदा सोने और चाँदी के बने हुए गहनों का उपयोग करते थे[११]। असुरों को भी देवताओं के शत्रु[१२], निरीश्वरवादी[१३] इत्यादि कहा गया है। पणि समुदाय के बारे में कहा गया है कि कुशल व्यापारी[१४] होने के अतिरिक्त सूदखोरी[१५] करके वे बहुत रुपया कमा लेते थे। कभी कभी वे पशु-धन हँका ले जाते थे[१६]। वे वीर योद्धा होते थे तथा लड़ते समय तीक्ष्ण अस्त्रों का उपयोग करते थे[१७]। पणि लोगों के बारे में कहा गया है कि वे श्रद्धा-हीन[१८], दान न देने वाले[१९], अयज्वानः[२०] और भेड़ियों के समान बहुभोजी[२१] होते थे। राक्षसों के विषय में कहा गया है कि वे नंगे रहते[२२], कच्चा मांस खाते[२३] तथा रात को पक्षी बन कर उड़ते फिरते थे[२४]। उनके प्राचीन नगरों का उल्लेख हुआ है[२५]। इसके अतिरिक्त उनके बारे में कहा गया है कि वे यज्ञ-हवन करने में बाधा डालते[२६],

---

[१] ७।२१।५,
[२] १०।३८।३;
[३] १०।२२।८;
[४] ७।६।३;
[५] ५।७।१०;
[६] ८।७०।११;
[७] १।१३०।८;
[८] १।५५।६;
४।२५।७;

[१०] ४।३०।१३;
[११] १।३३।८;
[१२] ६।५६।१;
[१३] ८।९६।९;
[१४] १०।१५६।२;
[१५] ८।६६।१०;
[१६] १।७१।२;
[१७] १०।१०८।५;
[१८] ७।६।३;

[१९] ६।६१।१;
[२०] ४।२५।७;
[२१] ६।५१।१४;
[२२] १०।६१।९;
[२३] १०।८७।२;
[२४] ६।१०४।१८;
[२५] ६।४।३;
[२६] ७।१०४।१८;

कभी-कभी उन्हें अपवित्र भी करते[१], लिंग मूर्त्ति का पूजन[२] जैसा विचित्र कृत्यादि[३] करते थे।

इन जन-जातियों के अतिरिक्त जैसे ऊपर कहा जा चुका है, आदि-द्रविड़, कोल और द्रविड़ नाम की जातियाँ भी उन दिनों इस महाद्वीप के भिन्न-भिन्न भागों में वसती थीं। परन्तु वेदों में उनका उल्लेख नहीं हुआ है। इनमें द्रविड़ जाति के लोग बड़े सभ्य थे। वे समुदायों में विभक्त थे। प्रत्येक जन-जाति पर शासन करने के लिये एक राजा होता था। वह गढ़ में रहा करता था। समाज में पुरोहित और योद्धाओं का स्थान ऊँचा माना जाता था। कभी-कभी वे उत्सव भी मनाते थे; ऐसे अवसरों पर चारण लोग गीत गाते थे। वे कुशल कृषक और निपुण बुनकर होते थे तथा सोने, तामे और लोहे के उपयोग से परिचित थे। वे बहुदर्शी नाविक और चतुर व्यापारी भी होते थे तथा बेबीलोनिया, चालडिया, फिलिस्तीन प्रमुख पश्चिमी देशों के साथ व्यापार करते थे। उनका निजी एक धर्म था। इसके अनुसार वे महामाई, शिवलिंग, नाग और वृक्षादि को पूजते थे तथा देवताओं की सेवा में मंदिर बनाते थे। उन्हें लिखने की विद्या भी आती थी तथा वे पुस्तकों का उपयोग करते थे। मुर्दों को वे शवाधार या मिट्टी की बनी हुई मटकियों में रख कर धरती में गाड़ देते थे।

हर्ष की बात है कि आदिम निवासियों की सभ्यता और रहन-सहन के विषय में ऋग्वेद प्रभृति की किताबी गवाही का बहुत-सा समर्थन महिंजोदड़ो और हरप्पा के खंडहरों में प्राप्त भव्य भवनों के भग्नावशेष और फुटकर वस्तुओं से होता है। इन की समीक्षा कर मार्शल ने सम्मति प्रकट की है कि उन दिनों पञ्जाब और सिंध में प्रचलित सभ्यता का स्तर उस समय मेसोपोटेमिया और मिश्र में प्रचलित सभ्यता से कहीं ऊँचा था[४]। यहाँ के सुरम्य नगर, वहाँ के भव्य भवन, विशाल स्नानागार, लम्बी-चौड़ी सड़कें, पानी पहुँचाने का प्रबंध, मैले पानी के निकास के लिये नलों की व्यवस्था, नागरिकों की परिश्रम-

---

१ १।६६।४
२ ७।२१।५;
३ ७।२२।६;
४ महिंजोदड़ो इ० १।१५...;

शील तथा सांस्कृतिक जीवन-यात्रा प्रणाली, उनके कला-कौशल के नमूने देख कर लोग दंग हो गये थे। उनका निजी एक धर्म था, जिसके अनुसार वे महा-माई के अतिरिक्त महायोगी पशुपति तथा शिव-लिंग का पूजन करते थे। साथ ही वे वृत्त, पशु और जल-पूजा भी करते थे। आविष्कृत सभी वस्तुओं की जाँच-पड़ताल कर मार्शल ने सम्मति प्रकट की है कि "महिंजोदड़ो और हरप्पा की संस्कृति और सभ्यता की स्थिति प्रारंभिक दशा की नहीं है। इसके पीछे सैकड़ों वर्ष की साधना और अथक परिश्रम निहित है तथा यह उस जाति की सतत लगन का द्योतक है।" इन आविष्कारों के बाद ईरान, मेसोपोटेमिया, फिलिस्तीन और मिश्र की भाँति भारत भी एक क्षेत्र माना जाने लगा, जहाँ मानव सभ्यता का प्रारंभिक विकास हुआ था।

मुख्यतः भिन्न धर्मावलम्बी होने के कारण ही वैदिक काल के आर्यों ने यहाँ के आदिम निवासियों को 'अन्यव्रताः' कहा था। ऐसी दशा में यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि धार्मिक भावना को बढ़ावा देने के लिये कभी-कभी वे अपने देवताओं की सेवा में उत्सव और मेलों का संघटन करते थे; बीतते हुए ऋतु की कठोरता भुला देने के उद्देश्य से समारोह के साथ वे नये ऋतु का स्वागत करते थे तथा सहयोगिता और सहानुभूति की भावना बढ़ाने और भरपूर उपज प्राप्त करने की आकांक्षा से वे कृषि और शिकार से संबंधित उत्सवों को मनाते थे।

आदिम जन-जातियों के उत्सवों में कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जो आर्यों के त्योहारों में नहीं रही। इन उत्सवों को मनाकर प्राचीनकाल की जनता अपनी आशा-आकाँक्षा, कामना और चेष्टा को मूर्त्तिमती बनाती थी। धर्म की जंजीर द्वारा जकड़े न होने तथा सर्वदा तंत्र-मंत्रादि का बोझा लाद कर कंठावरोध न कर दिये जाने के कारण ये उत्सव उनकी स्वच्छन्दता के प्रतीक थे। धर्म के साथ सर्वदा संबद्ध न होने के कारण वे सार्वजनिक होते थे, अर्थात् वे किसी जाति या दल विशेष की खास संपत्ति नहीं माने जाते थे, अपितु अड़ोस-पड़ोस के लोगों के एक साथ मिलने से प्रत्येक के हृदय में जो सहयोगिता और सद्भावना की उत्पत्ति होती थी, वह अतीव महत्त्वपूर्ण थी।

मनोकामना द्वारा प्रेरित होकर मानव बहुधा व्रत और उत्सव मनाते और उसीको पूरी करने के विचार से धार्मिक कृत्यादि करते हैं। साधारणतः व्रत या उत्सव में देखा जाता है कि दस प्राणी एक ही भावना से प्रेरित होकर कोई काम करते हैं। अतः एक के अन्तःस्तल की निहित कामना जब मूर्त्तिमती बनकर अड़ोस-पड़ोस के दस व्यक्तियों को प्रभावित करती है, तभी वह व्रत या उत्सव कहलाता है। नाच में एक ही प्राणी का होना पर्याप्त है; किन्तु अकेला मनुष्य न नाटक खेल सकता और न लीला ही प्रदर्शित कर सकता है। अकेला मनुष्य इष्ट देव की सेवा में जप-तप-आराधना कर सकता है, परन्तु वही मनुष्य अकेले उत्सव नहीं मना सकता। इसके लिये दस प्राणियों के जमाव की आवश्यकता है। उपासना और उत्सव का मनाना दोनों अनुष्ठान हैं, किन्तु उपासना एक ही में सीमित है और आत्म-संतोप उसका लक्ष्य है; इसके विपरीत उत्सव दस-बीस मनुष्यों से संबंधित होता है और कामना की चरितार्थता द्वारा सामूहिक आनन्द का उपभोग उसका ध्येय है।

वैदिक काल के आर्यों के उत्सव और मेले

आर्यों के पूर्व निवासी जन-जातियों की आनुमानिक तत्परता और कृतियों का वर्णन कर जब हम वैदिक काल के आर्यों के उत्सवादि मनाने के ढंग की समीक्षा करने लगते हैं, तब एक भारी उथल-पुथल दृष्टि-गोचर होने लगती है। लोकोत्सव के नाम-निशान फीके पड़ जाते हैं; कुल व्रत और उत्सवों का धार्मिकीकरण हो जाता है; विधि-निषेध, तंत्र-मंत्र और पुरोहिती की जंजीर द्वारा सब कुछ जकड़ लिया जाता है। यथारीति ऋतु-परिवर्त्तन से संबंधित तथाकथित उत्सव मनाया जाने लगा, परन्तु वह चातुर्मास्य के प्रसंग में नये-नये यज्ञों का आरंभ कर!

घरों की सफाई और साज-सजावट कर तथा भड़कीले वस्त्र-आभूषण पहन कर क्वार की पूर्णिमा को चान्द्र मत के अनुसार नव वर्ष का प्रारंभ मनाया जाने लगा; किन्तु उसके साथ भी जोड़ दिया गया यज्ञ-हवन जैसे धार्मिक कृत्य! उसी प्रकार माघी पूर्णिमा के आठ दिन बाद 'अष्टका' नाम का एक उत्सव

मनाया जाता था। उसी दिन सौर संवत्सर का आरंभ होता था। विनय पिटक में भी इस पर्व का उल्लेख है। किन्तु नियमानुसार इसके साथ भी यज्ञ-हवन प्रभृति जोड़ दिये गये!

उपर्युक्त नाम मात्र उत्सवों के अतिरिक्त कृषिकार्य जैसा विशुद्ध लौकिक धन्धे का भी धार्मिकीकरण हुआ। इसके अनुसार औपचारिक रूप से जिस दिन खेत की जोताई आरंभ की जाती थी, उस अवसर पर क्षेत्रपति को संबोधित कर कुछ मंत्रादि दोहराने की रीति चल निकली।

इन धार्मिक उत्सवों के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में एकमात्र सामाजिक उत्सव के मनाने का पता चलता है। वह था समन। उसका विस्तृत विवरण आगे चलकर मिलेगा।

विशुद्ध भावना द्वारा प्रेरित होकर यदि इन उत्सवों का धार्मिकीकरण होता तो कहने-सुनने की गुंजाइश कम होती। किन्तु वैदिक धर्म एक विशेष समुदाय का निजी धर्म था। अतः आर्येतर जनता का इनके साथ संपर्क नहीं रहने पाया। वह अपने ढंग से पुराने उत्सवों को मनाती रही। इनमें तत्परता, स्फूर्त्ति, आन्तरिकता, स्वच्छन्दता और स्वाभाविकता थी। इस प्रकार प्रारंभिक दशा में हमारे देश में कई संस्कृतियाँ एक साथ क्रियाशील थीं। निदान बहुत दिनों तक एक ही देश में रहने-बसने के कारण आर्य और आर्येतर जातियों का पारस्परिक जो मेल-जोल हुआ उसीका परिणाम आधुनिक हिन्दू धर्म या तथाकथित सनातन धर्म, पुराणोक्त देव-देवी तथा हिन्दू संस्कृति का विकास था। दूसरे शब्दों में सामुदायिक भावनाओं को त्याग कर धर्म जातीय बना जिसके विकास में सभी ने हाथ बँटाया।

प्राचीन लोकोत्सव

—एक—

स्वभाव से मानव सामाजिक जीव है। समाज से बिछुड़ कर उसके लिये जीवित रहना कठिन हो जाता है। इसलिये मुख्यतः सामाजिकता के सुख का अनुभव दिलाने और साथ ही संसार के प्रपंच में फँसे हुए जीवों को थोड़ी देर के लिये शारीरिक और मानसिक विराम देने के लिये बड़े प्राचीन काल से ही प्रत्येक देश के मानव समाज में नियत मुहूर्त्त और दिन पर उत्सव प्रभृति मनाने का आयोजन किया गया। थोड़े में, उत्सव द्वारा सामूहिक रूप से जाति या समुदाय के कुल सदस्यों को कुछ समय के लिये आनंद देकर उनके हृदयों को उदार और उन्नत बनाने का प्रयत्न किया गया। संभवतः इसी विचार से वात्स्यायन मुनि ने अपने 'काम सूत्र' में उत्सव और मेलों का नाम 'सम्भूय क्रीड़ा' दिया है—अर्थात् मनुष्यों का ऐसा जमघट जिसमें सामूहिक रूप से बहुत से नर-नारी एकत्र हो सक्रिय भाग लेवें।

देश में शान्तिमय वातावरण के न होने से जैसे शिल्प और कला का विकास नहीं हो पाता, उसी प्रकार उत्सव और मेलों को पनपाने के लिये अधिक से अधिक विराम की आवश्यकता है। प्राचीन काल में जब कोई प्रबल जाति दूसरी जाति को हरा देती थी, तब कायिक परिश्रम का सारा काम-धंधा विजित जाति के सदस्यों पर छोड़ कर वह स्वयं चैन की बाँसुरी बजाया करती थी। स्वभावतः ऐसे देशों में उत्सव और मेलों की अधिकता पायी जाती है। प्राचीन पृथ्वी की सभ्यता की लीला-भूमि मिश्र, बेबिलोनिया, असीरिया, यूनान, रोम प्रभृति देशों में इसीलिये उत्सवों की भरमार पायी जाती है।

प्राचीन भारत में भी लगभग यही परिस्थिति थी। किन्तु यहाँ वस्तु-स्थिति में कुछ भिन्नता थी। मुख्यतः देश के विस्तार तथा विजयी वर्ग की अल्प-संख्यकता के कारण आर्य जाति के लोग सम्यक विजित आर्येतर जाति को

प्राचीन किंतु सशक्त, संस्कृति और सभ्यता को बिलकुल जड़ से उखाड़ नहीं पाये। फलतः इस देश में बहुत दिनों तक एकाधिक समानान्तर संस्कृतियाँ चालू रहीं। कालान्तर में जैसे-जैसे पारस्परिक संसर्ग और संपर्क क्रमशः गाढ़ा होता गया, तैसे-तैसे एक सामान्य, जातीय संस्कृति का आविर्भाव हुआ जो न तो विशुद्ध आर्य थी और न निरी आर्येतर ही। इसी पुण्य सम्मेलन का महत्त्वपूर्ण प्रतीक हिन्दू धर्म था, जिसे हम 'सनातन धर्म' मानते हैं और जिसकी आधार-शिला श्रुति के अतिरिक्त स्मृति, पुराण प्रभृति है।

सनातन धर्म वैदिक जैसा किसी विशेष समुदाय का संरक्षित धर्म नहीं है; प्रत्युत यह धर्म जातीय है, अतएव प्रायः सभी के लिये इसके द्वार खुले पड़े हैं। कालान्तर में मुख्यतः महायान बौद्ध मत से टक्कर लेने तथा सनातन धर्म को लोक-प्रिय और भड़कीला बनाने के लिये बहुत से प्राचीन लौकिक मेले और उत्सव जो मुख्यतः ऋतु-परिवर्त्तन और कृषि कार्य से संबंधित थे, इसमें सम्मिलित कर लिये गये। पुनः भिन्न-भिन्न देव-देवियों के सम्मान में तथा आदर्श महापुरुषों की पुण्य स्मृति की रक्षा करने के लिये नाना प्रकार के उत्सव और मेलों का समावेश किया गया। धीरे-धीरे वे धार्मिक बंधन के अन्यतम साधन बन गये। ऐसा होते हुए भी प्राचीन काल में सर्व-ग्रासी सनातन धर्म के विजय अभियान से कुछ इने-गिने लौकिक मेले और उत्सवों ने आत्म-रक्षा कर पायी थी। प्रस्तुत अध्याय में मुख्यतः उन्हीं का वर्णन हो रहा है।

उन दिनों जब कोई उत्सव मनाने का अवसर आता था, तब शासक की ओर से 'छण भेरी' बजा कर लोगों को इसकी सूचना दी जाती थी। जातक ग्रंथों में कई बार इसका उल्लेख हुआ है[1]। उसी प्रकार द्रौपदी के स्वयंवर के प्रसंग में जो समाज हुआ था, शासक की ओर से उसकी भी घोषणा की गयी थी[2]। अनुमान किया जाता है छण भेरी की ऊँची ध्वनि सुन कर नागरिकों का हृदय, मेघ की गरज सुन कर मोर जैसा, मारे आनन्द के नाच उठता था!

---

[1] ६।४४६।२३३; ४६५ इत्यादि; [2] महाभारत, १।१८४।१२;

हत्थि-मंगल या हत्थि-मह

जातक ग्रंथों से पता चलता है कि "हत्थि-मंगल" या हस्ती मंगल नाम का उत्सव प्रति वर्ष राज-महल के आंगन में धूमधाम के साथ मनाया जाता था। उस दिन सारा राज-प्रासाद और विशेष कर वह आँगन, फल-फूल, बेल-बूटी, माला, मंगल-घट, छोटे-बड़े झंडे, रंग-बिरंगे वस्त्र प्रभृति द्वारा खूब सजाया जाता था; अगरु, धूप-बत्ती और सुगंधित तेल के दीपों के धूएँ से सारा आकाश धूमिल हो जाता था। गाजे-बाजे का कहना ही क्या! ऐसी साज-सजावट के बीच सोने और चाँदी के गहनों से मढ़े हुए सौ मस्त हाथी कतार लगाकर खड़े कर दिये जाते थे। इस उत्सव के सिलसिले में 'हत्थि-मंगल-लक्खन' पाठ कर राज-पुरोहित बहुत से गहने प्रभृति प्राप्त कर लेते थे[१]।

सुरा-नक्खत्त

प्राचीन काल में श्रमण और ब्राह्मणों को छोड़ लगभग सभी स्त्री-पुरुष मदिरा का उपयोग करते थे। अतः यह उत्सव बड़ा लोक-प्रिय था। पियक्कड़ लोग एक स्थान में एकत्र हो सुरा-पान कर हुल्लड़ मचाते थे। जातक ग्रंथों से पता चलता है कि राजगृह, काशी और श्रावस्ती में यह त्योहार समारोह के साथ मनाया जाता था[२]। धम्मपद-अत्थ-कथा से मालूम होता है कि श्रावस्ती में यह उत्सव निरंतर हफ्ते भर मनाया जाता था[३]। कभी कभी लोग ऐसे मौके पर मित्रों के यहाँ सुरा की भेंट भेजते थे। काशिराज ने अपने बगीचे में ठहरे हुए ५०० साधु-संतों के लिये मटकी भर-भर कर मदिरा भेजी थी[४]।

पुनः युद्ध में जीत होने से 'जय-पान' उत्सव धूमधाम के साथ मनाने की प्रथा थी। ऐसे मौकों पर राष्ट्र की ओर से विजयी सैनिकों को सुरा पिलायी जाती थी। वत्स राज उदेन को जीवित पकड़ लेने पर चंड-पज्जोत निरंतर तीन दिन तक जय-पान पीता रहा[५]।

[१] २।४६-४८; ४।८४; [२] १।३६२; ४।११५; १।४८६; ५।११ इत्यादि;
[३] ३।१००; [४] जातक १।३६२;
[५] धम्मपद-अत्थ-कथा, १।१९३;

कामसूत्र से ज्ञात होता है कि राज-भवनों में उन दिनों प्रायः 'आपानकोत्सव' या पान-गोष्ठी नाम की बैठक होती थी। राजा के अन्दर महल में बाहरी प्रेमिकों के प्रविष्ट होने के प्रसंग में वात्स्यायन मुनि सुझाव देते हैं कि ऐसे मौकों पर वे निश्चिन्त होकर घुस जा सकते हैं[1]। नागानन्द नाटक में मलयवती के विवाह के उपलक्ष्य में विद्याधर लोग पानोत्सव मनाते हैं, जिसमें विद्याधरियों की पी हुई मदिरा का बचा-खुचा भाग विद्याधर लोग बड़े चाव से पीते हैं[2]। दश-कुमार-चरित का वर्णन है कि विदर्भ-राज अवन्ती वर्मन ने पान-गोष्ठी की बैठक की थी। इसमें सस्त्रीक सामन्त रजवाड़े तथा प्रतिष्ठित नागरिक उपस्थित थे[3]।

यहाँ पर कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि बनारस में अभी तक बरना-प्याला नाम का एक उत्सव प्रति वर्ष मनाया जाता है जिसमें निम्न श्रेणी के लोग, विशेषकर धोबी, एकत्र हो सुरा प्रभृति नशीले पदार्थों का उपयोग करते हैं।

कौमुदी महोत्सव

क्वार की पूर्णिमा का नाम पालि साहित्य में 'कोमदीय चातुमासनीय छन' पड़ा है[4]। वात्स्यायन ने इसका नाम 'कौमुदी जागर' दिया है[5]। संहिता और ब्राह्मण-ग्रंथों में क्वार-पूर्णिमा को कुछ भी महत्त्व नहीं दिया गया है, अतः अनुमान किया जाता है कि ऋतु-परिवर्त्तन-संबंधी यह उत्सव प्रारंभ में विशुद्ध लौकिक रहा होगा।

आगे चलकर गृह्य सूत्रों में अश्वयुज् (आश्विन; क्वार) की पूर्णिमा को मान्यता मिली है। उस दिन चांद्र संवत्सर के नव वर्ष का आरंभ होता था। इस उपलक्ष्य में घर-बार की सफाई और सजावट की जाती थी। उच्च वर्ण के लोग सवेरे स्नानादि से निपट कर भड़कीले वसन-भूषण पहन उस दिन अश्वयुजी उत्सव मनाते थे। पशुपति, इंद्र, अश्विन् प्रमुख देवताओं को

---

[1] ६।२८; [2] तीसरा अंक, पृष्ठ ४७; [3] २।८।२६५;
[4] जातक, ६।५४४।२२१; [5] कामसूत्र, ५।५।११;

प्रसन्न करने के अभिप्राय से यज्ञ और हवन किये जाते थे तथा पायस का भोग चढ़ाया जाता था[1] ।

इसके विपरीत जनता अपने ढंग से 'कोमदीय चातुमासनीय छन' मनाती थी। बुद्धघोष की सुमंगल विलासिनी से पता चलता है कि उस दिन सारा राजगृह नगर सजाया जाता था। सड़कों पर बालू और पानी छिटकाया और छिड़का जाता था; गृह-द्वार पाँच प्रकार के रंगीन फूल, धान का लावा तथा मंगल घट से सजाया जाता था। चारो दिशाओं में छोटे-बड़े झंडे लहराये जाते थे। संध्या होते ही दीयों से सजकर सारा नगर जगमगाने लगता था। सड़क और चौमुहानियों पर उत्सव मनाने वाली नर-नारियों की भीड़ से कंधे छिल जाते थे[2] । धम्मपद-अत्थ-कथा से मालूम होता है कि यह उत्सव रात भर मनाया जाता था[3] ।

आर्यशूर की जातक माला के उन्मादयन्ती जातक में शिवि राज्य की राजधानी में जिस ढंग से प्रति वर्ष कौमुदी उत्सव मनाया जाता था, उसका विशद् वर्णन मिलता है। इस प्रसंग में कहा गया है कि उस दिन सारे नगर में बड़ी चहल-पहल रहती थी; सड़कों और चौमुहानियों पर पानी छिड़का जाता तथा उनकी सफाई की जाती थी। स्वच्छ धरातल पर फूल बिछा दिये जाते थे; चारों ओर ध्वजा और पताकाएँ लहरायी जाती थीं; जगह-जगह नृत्य-गीत के जलसे होते रहते, निरंतर बाजे बजते थे या हँसी-मज़ाक से भरे हुए प्रहसनों का अभिनय होता था। फूल-माला, धूप-दीपक, सुगंधित चूर्ण और अनुलेपन, सुरा की तीव्र महक और सुगंधित पानी की बू से सारा वायुमंडल छा जाता था। सड़कों की दोनों बगलों में सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं से सजी हुई दुकानें लगती थीं। बहुमूल्य वेश-भूषा से सुसज्जित नागरिक और गाढ़े वस्त्र पहने हुए देहातियों की भीड़ से दम घुटने लगता था[4] ।

वात्स्यायन का कथन है कि इस अवसर पर लोग रात भर जाग कर

[1] आश्वलायन गृह्य० २।२; शांखायन गृह्य० ४।१६;
[2] १।१४०; [3] ३।४६१; [4] १।८२;

जूआ खेलते थे तथा नागरिकाएँ राज-महलों में जाकर रानियों के साथ नाच-रंग करती थीं[१]।

वामन पुराण में इसी उत्सव का नाम 'दीप-दान महोत्सव' रखा गया है। इंद्रोत्सव के साथ इसे मनाने का निर्देश दिया गया है। इसी प्रसंग में सुझाव दिया गया है कि सज-धज कर लोग बलिराजा को पूजा चढ़ावें[२]।

मुद्रा-राक्षस नाटक के तीसरे अंक में डाही राक्षस के उकसाने से मलय-केतु द्वारा रचे हुए जाल को भंड करने के उद्देश्य से चाणक्य ने 'शरत् काल में मनाये जाने वाले' कौमुदी महोत्सव का मनाना बंद करवा दिया। इस पर चन्द्रगुप्त अपने शक्तिमान् मंत्री से बहुत बिगड़ गया। इसी प्रसंग में राजा कंचुकी से पूछता है—"सड़कों पर मंद-गामिनी वारनारियों के पीछे पड़े हुए मधुर-भाषी धूर्त दिखायी नहीं देते, और न घर की स्त्रियों को साथ लेकर अपने अपने वैभव का प्रदर्शन करते हुए निडर नागरिक ही रमते फिरते हैं"!

प्रतिवर्ष आषाढ़, कार्त्तिक और फागुन में जैन लोग अपने मंदिरों में अष्टाह्निकी पूजापर्वन् मनाते हैं। इन दिनों वे व्रती रहकर अपने देवताओं का पूजन करते हैं। जैनियों का विश्वास है कि इन दिनों कुल देवता नन्दीश्वर द्वीप में पूजा चढ़ाने जाते हैं। इसी अष्टाह्निकी पर्वन् को वे नन्दीश्वर पर्व या कौमुदी महोत्सव भी कहते हैं। इस दिन जैन लोग नृत्य-गीत द्वारा आनन्द मनाते हैं[३]।

कत्तिक छन

वैदिक काल में सारे वर्ष को तीन अलग अलग ऋतुओं में विभक्त करने की प्रथा थी। इस प्रकार प्रत्येक ऋतु की अवधि चार महीने मानी जाती थी। प्रत्येक ऋतु के प्रारंभ होने के साथ-साथ एक विशेष यज्ञ का आरंभ किया जाता था[४]। यह यज्ञ चार महीने तक चालू रहता था। वैदिक साहित्य

---

[१] १।४।४२;
[२] ९२।५६-५८;
[३] बृहत् कथा कोश की भूमिका, पृष्ठ ८५;
[४] शतपथ ब्राह्मण, १।६।३।३६;

बाल-नक्खत्त

धम्मपद-अत्थ-कथा से पता चलता है कि श्रावस्ती में प्रति वर्ष 'बाल-नक्खत्त' या 'मूर्खों का मेला' नाम का एक त्योहार मनाया जाता था। उत्सव के सातों दिन निर्बोध और उजड्ड लोग शरीर में गोबर जैसे गलीज पदार्थ पोतकर अश्लील गालियाँ बकते फिरते थे। पुनः शान्ति-प्रिय नागरिकों के घर के सामने खड़े होकर वे चिल्ला चिल्लाकर गाली देते थे। उनको चलता करने के लिये बिचारे घरवाले रुपया-पैसा देकर अपना पिंड छुड़ाते थे[1]। किसी-किसी प्रान्त में अभी तक इस ढंग से होली का त्योहार मनाया जाता है।

प्राचीन काल में जुलाई ७ को रोम में एक उत्सव मनाने की रीति थी, जो किसी-किसी बात में हमारे देश में मनाये जाने वाले 'बाल नक्खत्त' से मिलता-जुलता था। उस दिन खरीदी हुई दासियों को बहुत कुछ स्वतंत्रता मिल जाती थी। उस दिन वयस्क दासी और उनकी बेटियाँ रोम की स्वतंत्र नागरिक। जैसी साज-सजावट कर सड़कों पर रमती-फिरती थीं। तथा रास्ते में छोटे-बड़े जिनसे भी भेंट-मुलाकात होती थी उनकी हँसी उड़ाती और चिढ़ाने लगती थीं। अन्ततोगत्वा वे आपस में लड़ जाती और एक दूसरे पर चक्का चलाती थीं। रात होने पर फटे हुए सिर लेकर अधिकतर दासियाँ घर लौटती थीं। कुछ लोगों ने इस उत्सव का नाम 'छोटी माटरनेलिया' दिया था।

चातुम्मासिय मज्जणय उस्सव

नाया धम्म-कहाओ नाम के जैन अंग में एक विचित्र स्नान-समारोह का विस्तृत विवरण देखने में आता है। धूमधाम के विचार से यह उत्सव जगन्नाथ जी की स्नान-यात्रा से किसी बात में कम नहीं था। यह स्नान-समारोह, जैसे नाम से सूचित होता है, जैन चातुर्मास्य के प्रसंग में धूमधाम के साथ मनाया जाता था। कुणाल नगर के शासक, रुप्पी की पुत्री सुबाहु के स्नान-समारोह के उपलक्ष्य में सारे नगर की सफाई-सुथराई तथा साज-सजावट की गयी। नगर के

---

[1] ११२२६

बीच एक ऊँचा मंच खड़ाकर उसे फूल-माला, रंगीन कपड़े, रंग-बिरंगे झंडे, सुगंधित धूप और दीये प्रभृति से खूब सजाया गया। दोपहर के लगभग धूम-धाम के साथ राज-भवन से राजकुमारी को लेकर एक भारी जलूस निकाला गया। उस जन-यात्रा के सुसज्जित मंच तक पहुँचने पर राज-कन्या को उस पर रखे हुए एक सुन्दर सिंहासन पर बैठाया गया। फिर रानियों ने सोने और चाँदी के घड़ों में रखे हुए सुगंधित पानी से राज-कुमारी को नहलाया। फिर उन्हें नयी साड़ियाँ और बहुमूल्य गहने दिये गये। साज-सिंगार समाप्त होने पर उसने राजा को प्रणाम किया[1]।

रैवतक मह

महाभारत के आदि पर्व[2] तथा अश्वमेध पर्व[3], दो स्थानों में इस लौकिक मेले का विवरण दिया गया है। यह मेला वृष्णि-अंधक-भोज जन-जातियों का सामुदायिक उत्सव था। इस मेले के उपलक्ष्य में सारा रैवतक पहाड़ तथा उसके चारों ओर के घर-बार फूल-माला, रंग-बिरंगे कपड़े, झंडे इत्यादि से सजाये जाते थे। दीप-वृक्षों के प्रकाश से गुफें और झरनों से घिरे हुए अंधेरे स्थान में दिन जैसे उजाले हो जाते थे। मद-मत्त स्त्री-पुरुषों के लड़खड़ाते हुए नृत्य-गीत से पहाड़ की कंदराएँ गूँजने लगती थीं। सैकड़ों दुकानें लगती थीं जहाँ खान-पान की सामग्री के अतिरिक्त नाना प्रकार के वस्त्र-आभूषण प्रभृति बिकते थे। सुरा, मैरेय आदि नशीले पदार्थों की नदियाँ बहने लगती थीं। तमाशबीन दीन दुःखियों को दान देते थे। उच्च वर्ग के लोग सज-धज कर सस्त्रीक नाना प्रकार की सवारियों पर बैठकर वहाँ पहुँचते थे; मामूली लोग पैदल जाते थे। ऐसे ही मौके पर अर्जुन ने पहले पहल भद्रा देवी को देखकर आत्म-निवेदन किया था।

गोवर्धन-महोत्सव या गिरि-यज्ञ

कृष्ण भगवान् के आविर्भाव के पहले वृन्दावन के ग्वाले प्रति वर्ष समारोह के साथ इन्द्र मह नाम का एक धार्मिक उत्सव मनाते थे। परन्तु

---

[1] १।८।७४-७८; [2] १।२१६।१......; [3] १४।५६।४......;

श्रीकृष्ण ने उन्हें यह कहकर बहकाया कि हम लोग जाति के ग्वाले हैं। हम से इन्द्र से क्या मतलब ? आइये, हम लोग गिरि-यज्ञ नाम के उत्सव मनाने का आयोजन करें। तदनुसार प्रत्येक ग्वाले से तीन दिन का दूध-दही चन्दे के रूप में (संदोह:) लिया गया। त्योहार के दिन सभी ग्वाले और ग्वालिन सज-धजकर गोवर्धन गिरि पर जमा हुए। वहाँ सह-भोज हुआ था, जिसमें सैकड़ों प्रकार के निरामिष तरकारी के अतिरिक्त नाना प्रकार के पकाये हुए माँस परोसे गये थे। अन्त में गाय, बैल और बछड़ों को फूल, माला और चंदन से सजाकर नाचते, गाते और बाजे बजाते हुए सभी ने जलूस बनाकर गोवर्धन पहाड़ की परिक्रमा की[1]।

पुहार का मेला

दक्षिण भारत के नामी कवि इलंगू ने 'सिलप्पधिकारम्' नाम के तमिल काव्य में इस मेले का विस्तृत वर्णन किया है। कहा जाता है अगस्त्य ऋषि के निर्देश के अनुयायी होकर अतीव प्राचीन काल के एक चोल राजा ने इसका श्रीगणेश किया था। समुद्र की लंबी-चौड़ी तट-भूमि पर २८ दिन तक यह मेला चालू रहता था। नृत्य-गीत के अतिरिक्त आमोद-प्रमोद के बहुत से साधन वहाँ देखने में आते थे। अंतिम दिन चोल राजधानी पुहार की आबाल-वृद्ध-वनिता वहाँ पहुँचती और समुद्र में स्नान कर घर लौटती थी[2]।

समाजोत्सव

इस उत्सव का उल्लेख संस्कृत और पालि भाषा में लिखित ग्रंथों में उल्लिखित हुआ है। प्राचीन काल में अधिकतर राजे-महाराजे तथा धनी लोग इस उत्सव का संगठन करते थे[3]। कलानिपुण नृत्य-गीत तथा हाव-भाव युक्त धन दृश्यों की भरमार होने के कारण[4] बुद्ध भगवान ने 'समज्जट्ठान' की निन्दा सुनाई थी[5]। सब जनों के अभिप्राय से सभी वर्ग के लोग इस उत्सव में

[1] हरिवंश, २।१६-१७; [2] आयंगार का एन्शेन्ट इंडिया, पृष्ठ ७१;
[3] जातक ३।४३८; ६।३८३; [4] दीघ निकाय, १।१।३;
[5] मिलिन्द पन्ह, ३।१।१;

साग्रह भाग लेते थे। जातक ग्रंथों का कथन है कि ये प्रेक्षणक या नाटक इतने रोचक होते थे कि मानव जाति के स्त्री-पुरुषों के अतिरिक्त देव, नाग और गरुड़ भी इनमें उपस्थित रहते थे[१]। रंग-मंच या प्रेक्षणागार बीच में होता था; उसके चारों ओर दीर्घाएँ या 'गैलरी' होती थीं। उन पर दर्शक लोग बैठते थे[२]। कभी-कभी बैठने के लिये दर्शक लोग स्वयं अपना-अपना मंच बना लिया करते थे[३]।

रंग-मंच पर नाटक के दृश्य, गीत-वाद्य और नृत्य[४], कुश्ती[५], पशु-पक्षियों की लड़ाई[६] प्रभृति दिखाये जाते थे। कभी-कभी नागरिक लोग अपनी-अपनी कला भी प्रदर्शित करते थे[७]।

पालि ग्रंथों से पता चलता है कि प्रति वर्ष राजगृह में समाज होता था[८]; वहाँ तालपुट नाम का एक प्रसिद्ध अभिनेता ५०० 'नाटकी स्त्रियों' के साथ नृत्य और नाट्य-कला प्रदर्शित कर नागरिकों को मुग्ध कर देता था[९]। अभिनय सुन्दर होने से पुरस्कार के रूप में दर्शक लोग कलाकारों को रुपये-पैसे भी देते थे[१०]।

रामायण में कई स्थानों में समाज शब्द का उल्लेख हुआ है। लक्ष्मण जी ने अयोध्या को 'समाजोत्सवशालिनी' ऐसा वर्णन किया है[११]। नागरिक लोग शोक मनाते हुए कहते हैं कि रामचंद्र जी के निर्वासन के बाद 'महत्सु समाजेषु' उनका दर्शन नहीं मिलेगा[१२]। शासक के न होने से राष्ट्रों में जो दोष आ जाते हैं उनका वर्णन करते हुए कहा गया है कि ऐसे देशों में उत्सव,

---

[१] २।१३;
[२] ६।२७७;
[३] मनोरथ पूरणी, १।१५६;
[४] जातक, २।६१;
[५] ६।२७७;
[६] दीघ निकाय, १।६;
[७] जातक, ३।२२८;
[८] मनोरथ पूरणी, १।१५६;
[९] सामस अभ् ब्रेदेरेन, पृष्ठ ३६६;
[१०] धम्मपद अत्थकथा, १।८६;
[११] २।५१।२३; १००।४४;
[१२] २।४७।१३;

समाज तथा नट-नर्तकों की कला पनप नहीं सकती[१]। राक्षसों में भी समाजोत्सव मनाने की प्रथा थी[२]।

शस्त्रास्त्र चलाने की विद्या सीख लेने के बाद धार्त्तराष्ट्र और पाण्डव राजकुमारों की जो प्रकाश्य परीक्षा हुई थी, उसका विवरण महाभारत में पाया जाता है[३]। इस जमाव का नाम भी समाज दिया गया है। इसमें शासक वर्ग, जनता तथा स्त्रियों के लिये अलग-अलग मंच बनाये गये थे। उसी प्रकार द्रौपदी के स्वयंवर के उपलक्ष्य में बने हुए सभा-भवन को समाज-वाट कहा गया है[४]। इसकी साज-सजावट का विस्तृत विवरण महाभारत में किया गया है। यह समाज एक पखवारे से कुछ अधिक काल तक चलता रहा। विमानों में राजे-महाराजे विराजते थे तथा नागरिक मंचों पर बैठे हुए थे। दर्शकों का मन बहलाने के अभिप्राय से नर्तकों और गवैयों के कला प्रदर्शित करने का भरपूर प्रबंध किया गया था।

समाजों में कुश्ती के प्रदर्शन की रीति का उल्लेख भी महाभारत में हुआ है[५]। पाण्डवों के अज्ञातवास करते समय मत्स्य देश में ब्रह्मोत्सव मनाने के प्रसंग में जो समाज हुआ था, उसमें भीम और जीमूत नाम के एक मल्ल की कुश्ती का विस्तृत विवरण उस ग्रंथ में किया गया है[६]।

कामसूत्र में सामयिक आमोद-प्रमोद को पाँच विभागों में बाँटा गया है। इसमें पहला स्थान समाजोत्सव को दिया गया है। वात्स्यायन मुनि का कहना है कि पंचमी तिथि की रात में सरस्वती जी के मंदिर में समाज करने की रीति थी। इस प्रकार के उत्सवों में स्थानीय तथा प्रायः बाहर से आये हुए गवैये, नट-नटी तथा नाटकों का विशिष्ट जलसा हुआ करता था। सभी कलाकार नाच-रंग और नाटकों का अभिनय कर दर्शकों का मनोरंजन करने का प्रयत्न करते थे। दूसरे दिन उन्हें मेहनताना पारिश्रमिक दिया जाता था। बाहर से आये

---

[१] २।६७।१४;
[२] ३।३८।२४;
[३] १।१३४।.....;
[४] १।१८४.....;
[५] ४।२।७;
[६] ४।१३।१४

हुए कलाकारों को खिलाने-पिलाने और ठहराने का भार एक-एक व्यावसायिक श्रेणी पर सौंपा जाता था। अन्यान्य तिथियों पर अन्यान्य देवताओं के मंदिरों में इसी प्रकार के समाज होते थे[१]।

विष्णु पुराण में चाणूर और मुष्टिक नाम के दो मल्लों के द्वारा श्रीकृष्ण और बलराम को वध कराने के लिये कंस महाराज ने जो समाज का आयोजन किया था, उसके विवरण से मालूम होता है कि रंग-भूमि के भीतर घुसने के लिये दरवाजे थे; रंग-स्थल बीच में था तथा उसके चारों ओर मंच बने हुए थे। संभवतः यह समाज-वाट स्थायी भवन था। शासक, हरम की महिलाएँ, नागरिक और नागरिकाएँ, वारवनिताएँ, नन्द गोप और उसके साथियों के लिये अलग-अलग मंच नियत किये गये थे। शासक की आज्ञा मिलते ही पहलवान और निर्णायक (प्राश्निक) जाकर बीच के अखाड़े में डट गये[२]।

उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि इस प्रकार के समाजोत्सव प्रायः निर्दोप आमोद-प्रमोद के साधन थे। किन्तु इसके अतिरिक्त और भी एक प्रकार का समाज होता था जिसमें भाग लेने से लोगों की निंदा होती थी। ऐसे समाजों में सुरा-मैरेय-मांस इत्यादि के भोजन-पान का व्यापक प्रबंध रहता था। विनय पिटक से पता चलता है कि राजगृह नगर के कुछ भिक्षुओं की इस प्रकार के एक समाज में भाग लेने के कारण बड़ी निंदा हुई थी[3]।

पुनः निकुंभ नाम के एक दानव के वध के बाद अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रगट करने के अभिप्राय से भगवान् श्रीकृष्ण ने विल्वोदकेश्वर नामक शिव भगवान् की सेवा में एक समाज का आयोजन किया था। इस प्रसंग में जो गण-भोज हुआ था, उस में नाना प्रकार की तरकारियाँ और अन्न के अतिरिक्त मांस भी परोसा गया था। सर्वोपरि दर्शकों का मन बहलाने के लिये बहुत से कलाबाज़ पहलवानों ने अपनी कला प्रदर्शित की। कृष्ण भगवान् ने इन मल्लों को सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और नकद रुपये भी पुरस्कार स्वरूप दिये थे[४]।

---

[१] १।४।२६-३२; [२] ५।२०।२३-२८; ब्रह्मपुराण, १९३।२४...; हरिवंश, २।२९।१-१६, [3] २।५।२।६; [४] हरिवंश, २।८९।७१;

मांस जैसे हिंसा-मूलक खाद्य पदार्थों के उपयोग होने के कारण संभवतः 'देवानांप्रिय' सम्राट् अशोक ने अपने शिलालेखों में इस प्रकार के समाजोत्सवों की निन्दा की है[1]।

उपर्युक्त दो प्रकार के समाजों के अतिरिक्त पालि ग्रंथों में 'गिरि-अग्ग-समज्ज' का भी उल्लेख हुआ है[2]। संभवतः ऐसे समाज पहाड़ों पर मनाये जाते थे। इन में अधिकतर नाच-रंग-तमाशे दिखाये जाते थे।

समाजोत्सव के प्रसंग में अन्ततोगत्वा यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि संभवतः ये वैदिक काल के 'समन' या मेलों के रूपान्तर भर थे[3]। इन समनों में पुरुषों के अतिरिक्त दिल बहलाने के उद्देश्य से बड़ी संख्या में महिलाएँ[4], नाम कमाने के लिये कवि[5], पुरस्कार मिलने की आशा से धनुर्धर[6], और घुड़दौड़ के घोड़े[7] उपस्थित रहते थे; और पहुँचती थीं पैसे कमाने के लालच से वेश्याएँ[8]। सर्वोपरि इन मेलों में उपयुक्त वरों की खोज में तरुणी तथा वयस्क कन्याओं की भीड़ लग जाती थी[9]। इन मेलों की कार्यवाही रात-रात भर चालू रहती थी[10]। कभी-कभी आग लग जाने से रंग में भंग हो जाता था तथा दर्शक लोग तितर-बितर हो जाते थे[11]।

फिर जैनियों के आचारांग सूत्र में 'संखडि' नाम के उत्सव का उल्लेख हुआ है। यह उत्सव बहुत-सी बातों में समाजोत्सव से मिलता-जुलता था। इस उत्सव के प्रसंग में वाद्य-गीत के साथ-साथ नाच-रंग का प्रबंध रहता था तथा भोज में सुरा तथा मद्य-मांस का उपयोग किया जाता था[12]। ऐसे

जमघटों में दुश्चरित्रा स्त्रियाँ तथा हिजड़े साधु व्यक्तियों को बहकाने की चेष्टा करते थे[1]। अतः जैन साधुओं को निर्देश दिया गया है कि वे ऐसे उत्सवों में सम्मिलित न हों[2]।

उसी प्राकृत ग्रंथ में महुस्सव (या महोत्सव) नाम के और एक प्रकार के उत्सव का उल्लेख हुआ है। इसमें सभी वय के स्त्री-पुरुष सज-धज कर एकत्र हो नाचते-गाते, हँसते-खेलते रमते-फिरते थे। अन्त में पान-भोजन द्वारा परितृप्त होकर वे घर लौटते थे[3]।

सभी को मालूम है कि जिन जिन मेलों और उत्सवों का वर्णन ऊपर हुआ है, दो-एक के सिवा आजकल वे प्रचलित नहीं हैं। कब और कैसे वे ठप हो गये, यह भी निश्चित रूप से कहना बहुत कठिन है। तथापि अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि जातीय उत्सवों के संघटित होने के बाद ये सब सामुदायिक मेले और उत्सव फीके पड़ गये; कत्तिक छन, बाल नक्खत्त जैसे कुछ उत्सवों का कायापलट हो गया तथा सुरा-नक्खत्त और रैवतक मह जैसे मेले कालान्तर में रुचि-परिवर्त्तन के साथ प्रायः विलुप्त हो गये। जिन-जिन प्राचीन ग्रंथों में इनका उल्लेख हुआ है उनके संकलन अथवा रचना-काल पर विवेचन करते हुए मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि संभवतः ये मेले और उत्सव हमारे देश में वैदिक काल के पहले से पाँचवीं शती तक प्रचलित थे। संभव है, कोई-कोई उत्सव और अधिक दिनों तक चालू रहे हों।

ऊपर जिन जिन विशुद्ध लोकोत्सवों का वर्णन हुआ है उनका विश्लेषण करने से पता चलता है कि—

(१) उपर्युक्त उत्सवों में अधिकतर तो सामुदायिक थे; अतः इनके प्रभाव का क्षेत्र सीमित था;

(२) धर्म के साथ संबद्ध न होने के कारण सभी कोई इनमें सक्रिय भाग ले सकते थे; इनकी सार्वजनिकता बड़ी भारी विशेषता थी;

(३) सभी श्रेणी के लोग यक्ष प्रमुख अपदेवताओं का पूजन करते थे;

---

[1] २।१।३।२; [2] २।१।२।५-६; [3] २।११।१८,

(४) दक्षिण की कुछ पिछड़ी हुई जातियों में मृतकों की संरक्षित लाशों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिये उत्सव मनाने की प्रथा थी;

(५) ऐसे अवसरों पर लोग बहुधा सुरा-पान करते, गाली-गलौज बकते और जूआ खेलते थे।

जीवन में जब विचित्रता, प्रसन्नता और आशावादिता की कमी होती है, तभी अतृप्त लोग इन उपायों से थोड़े समय के लिये नित्य का अभाव-अभियोग भुला देने की चेष्टा करते हैं। दरिद्रता इन कुकर्मों का एक मात्र कारण नहीं। अतः आधुनिक काल की भाँति प्राचीन भारत में इस समस्या का कोई हल नहीं हो पाया।

जिन-जिन उत्सवों का वर्णन ऊपर हुआ है, उनमें से बहुतों के मनाये जाने की तिथि का उल्लेख नहीं हुआ है। इसलिये हत्थि-मह, सुरा-नक्खत्त, धोवनम्, रैवतक मह, पुहार का मेला प्रमुख त्योहार कब मनाये जाते थे, यह निश्चय करके कहना कठिन है। देव-देवियों की सेवा में मनाये जाने वाले उत्सवों की तिथि निश्चित करना बहुत कठिन नहीं—अतएव जिस ऋतु में ये उत्सव मनाये जाते हैं उससे थोड़ा बहुत आभास मिल जाता है। जैसे, यदि कोई त्योहार अमावास्या अथवा पूर्णिमा को मनाया जाय तो अटकल भिड़ाई जा सकती है कि देवता स्वयं चंद्रमा अथवा उनसे संबंधित कोई ग्रह नक्षत्र होंगे। यदि कोई पर्व उत्तरायण या दक्षिणायन में मनाने की रीति हो तो अनुमान करना युक्ति-युक्त होगा कि देवता स्वयं सूर्य भगवान् या उनसे संबंधित होंगे। उसी प्रकार यदि कोई उत्सव खेत जोतने, बीज बोने अथवा फसल काटने के समय मनाया जाय तो अन्दाज लगाया जा सकता है कि देवता धरती माता अथवा उपज से संबद्ध हैं।

परन्तु उपर्युक्त पर्व का मुख्यतः लोकोत्सव होने के कारण ठीक-ठीक अनुमान लगाना भी जोखिम उठानी है। तथापि कुतूहली पाठक के मन को सांत्वना देने के लिये किसी-किसी उत्सव के मनाने की तिथि के बारे में अटकल लगायी जा सकती है।

महाभारत में रैवतक मह के वर्णन के प्रसंग में जो विवरण पाया जाता है, उससे मालूम होता है कि वह झरनों तथा पत्र-पुष्प से सजा हुआ था। ऐसे

साज-सजावट वर्षा के बीतने पर ही दिखायी देती है। अतः अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि संभवतः रैवतक मह शरत् काल में मनाया जाता रहा होगा जब प्रकृति देवी पत्र-पुष्प द्वारा सुशोभित होती है, पानी की कमी नहीं होती तथा यातायात करना भी कठिन नहीं है।

प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक जाति के पंचांग में ऐसी कुछ तिथियाँ नियत कर दी जाती हैं, जब समग्र जाति सहम और संकोच ताक पर रख कर आनंद करने में मग्न हो जाती है। इन दिनों समुची जाति के लोग पागल जैसे बरतते हैं और ऐसे-ऐसे अनुचित कर्म करते भी सकुचाते नहीं, जिन्हें साधारणतः वे कभी नहीं करते। इस रीति से सारी जाति की वर्ष भर की रुँधी हुई भावुकता आत्म-प्रकाश करती है। यह भी लक्ष्य करने का विषय है कि प्रायः ऐसे उत्सव वर्ष के अन्तिम भाग में मनाये जाते हैं तथा बहुधा फसल बोने अथवा काटने से संबंधित होते हैं।

प्राचीन रोम में दिसम्बर १७ से २३ तक हफ्ते भर समारोह के साथ साटरनेलिया उत्सव मनाने की प्रथा थी। इन दिनों रोमन लोग खुल्लमखुल्ला उचित-अनुचित बहुत से अपकर्म कर आनंद मनाते थे। उन्हें उन दिनों नियंत्रित करने वाला कोई नहीं था। वैयक्तिक संपत्ति नाम की कोई वस्तु रहने नहीं पाती। उन दिनों सभी काम संगत माने जाते थे। दास-दासी घर के स्वामी के साथ बराबरी का बर्त्ताव करते थे तथा उनसे नौकरों का काम भी लेते थे। इस उत्सव के उपलक्ष्य में नियमानुसार नकली राजा भी चुना जाता था। वह 'चार दिन की चाँदनी' के समान तथाकथित रियायों पर रोब गाँठता था और हास्यास्पद आज्ञाएँ जारी करता था; जैसे किसी को अपनी निन्दा स्वयं करने की आज्ञा देता, किसी को गाने-बजाने वाली लौंडियों को अपने पीठ पर बैठाकर दौड़ने को कहता......इत्यादि।

हमारे देश में प्रचलित बाल नक्खत्त इसी प्रकार का एक उत्सव था। यदि मान लिया जाय कि वह वर्ष के अंतिम महीने अर्थात् फागुन में मनाया जाता था तो स्वभावतः यह भी मानना पड़ता है कि वह होली का पूर्वज था।

विवट नक्खत्त दिवस के बारे में अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि यह उत्सव संभवतः वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं के संधि काल में मनाया जाता था, जब नदी में स्नान करने से चित्त को प्रसन्नता होती है तथा फूलों की भी कमी नहीं होती है।

संभवतः हत्थि मह विजय अभियान के प्रसंग में घर से यात्रा करने के पहले अर्थात् शरत् काल में मनाया जाता था। उसी प्रकार पुहार का मेला संभवतः गर्मी के दिनों में लगता था; क्योंकि समुद्र का स्नान उन्हीं दिनों सबको रुचिकर लगता है।

कुछ अर्द्ध-लौकिक उत्सव

—दो—

प्रस्तुत अध्याय में प्राचीन काल के कुछ ऐसे मेले और उत्सवों का वर्णन किया जायगा, जिनका आधार पूर्णतया लौकिक होते हुए भी उन पर धार्मिक लेप ऐसे गाढ़े रूप से चढ़ गया है कि बाह्य दृष्टि से समझ में नहीं आता कि प्रारंभ में वे लौकिक थे अथवा धार्मिक। इन उत्सवों में इन्द्र-ध्वज का उत्तोलन और मदन महोत्सव क्रम से कृषि-कार्य तथा ऋतु-परिवर्त्तन से संबंधित थे। अतः अनुमान किया जाता है कि आदि-वासियों के लोक-प्रिय ये सब उत्सव, पिछले दरवाजे से घुस कर हिन्दू धर्म में सम्मिलित हो गये। उत्तर काल में उनके साथ धार्मिक कृत्यादि जोड़ कर उन्हें शिष्टों की मान्यता दिलायी गयी; किन्तु रुचि-परिवर्त्तन के साथ-साथ इन उत्सवों का आजकल विलोप-सा हो गया है। परन्तु नाग पंचमी, दीपान्विता (दीवाली), होलिका दाह (होली) जैसे कुछ पर्व अभी तक भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रति वर्ष धूम-धाम के साथ मनाये जाते हैं। थोड़ा-सा विचार करने से प्रतीत होगा क्रम से सृष्टि-तत्त्व, कृषि तथा ऋतु परिवर्त्तन से संबद्ध ये सब त्योहार प्रारंभ में संभवतः आदि-वासियों के हृदय के स्वाभाविक उद्‌गार थे, जिनको अपना कर सर्व-ग्रासी सनातन धर्म ने तोषण की नीति से काम लिया। इन उत्सवों पर सनातन धर्म की अमिट छाप लग जाने पर उनकी रुचि-संबंधित कुछ उन्नति होने के अतिरिक्त बहुत से आदि-वासी उसके व्यापक घेरे में आ गये। पुनः कालान्तर में ये सब पर्व और त्योहार सनातन धर्म के अनुयायियों के हृदय में जातीयता की भावना भरने के सर्वोत्कृष्ट साधन भी बन गये।

आदि-वासियों के उत्सवों पर धार्मिक रंग चढ़ाकर उनको अपनाने की

परिपाटी केवल हिन्दू धर्म की ही विलक्षणता थी, ऐसा नहीं समझना चाहिये; अपितु यूरोप में ईसाई धर्म ने भी प्रारंभिक दशा में इसी प्रकार वहाँ के आदिवासियों के त्योहारों पर निजी धार्मिक रंग चढ़ा कर उन्हें अपनाया था।

सभी को विदित है कि दिसम्बर २५ को ईसाई लोग समारोह के साथ ईसा मसीह का जन्म दिन मनाते हैं। भारत में ईसाइयों के इस पर्व का नाम 'बड़ा दिन' पड़ा है। जूलियन पंचांग के अनुसार दिसम्बर २५ को जाड़े की समरात्रि भी मानी गयी है। सुन कर पाठक आश्चर्य करेंगे कि प्रारंभिक दशा में शाम, मिश्र प्रमुख देशों में उसी दिन ईरानी देवता मिथ्रा अथवा सूर्य भगवान् के जन्म की वर्ष-गाँठ मनायी जाती थी। बाइबिल में कहीं भी ईसा के जन्म दिन का उल्लेख नहीं हुआ है। अतः प्रारंभ में यूरोप या पूर्वी देशों में कहीं भी यह उत्सव मनाने की प्रथा नहीं थी। कालान्तर में मिश्र प्रमुख पूर्वी देशों में ईसा मसीह के जन्म दिन का उत्सव जनवरी ६ को मनाया जाने लगा। उधर पाश्चात्य देशों में क्रमशः दिसम्बर २५ को मसीह के जन्म दिन का उत्सव मनाने की प्रथा चल निकली। निदान चौथी शताब्दी के लगभग पूर्वी देशों ने भी उसी तिथि को अपनाया। सन्त अगस्टाइन के लेख में आदिम निवासियों के इस उत्सव के अपनाने की परिपाटी का स्पष्ट इंगित पाया जाता है। एक स्थान में सन्त जी ईसाइयों को प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं कि "दूसरे धर्म-मत के अनुयायियों के समान आप सूर्य के सम्मान में यह पवित्र त्योहार न मना कर चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्र प्रभृति के सृजनहार परम देवता की सेवा में यह उत्सव मनाइये।"

इसके अतिरिक्त शाम देश के एक प्राचीन ईसाई के लेख से पता चलता है कि उन दिनों जो लोग ईसाई नहीं थे, वे दिसम्बर २५ को समारोह के साथ सूर्य देवता का जन्मोत्सव मनाते थे। इस प्रसंग में वे अग्न्युत्सव का पालन करते थे अर्थात् होली की भाँति महाग्नि प्रज्वलित करते थे। इसमें बड़ी संख्या में ईसाई लोग भी भाग लेते थे। इस बात को ध्यान में रखते हुए ईसाई मत के प्रवीण धुरंधरों ने दिसम्बर २५ को मसीह का जन्म दिन और जनवरी ६ को एपिफैनी उत्सव (जिस दिन नव-जात मसीह ने प्राच्य के विज्ञों को पहले-

पहल दर्शन दिया था) मनाने की प्रथा प्रचलित की। साथ ही उसी दिन अग्न्युत्सव मनाने की प्रथा भी जारी रखी गयी।

उसी प्रकार बहुतों को मालूम होगा कि मार्च २५ से २७ तक ईसाई लोग 'गुड फ्राईडे' का त्योहार मनाते हैं। उनकी धारणा है कि मार्च २५ को मसीह का क्रूशारोपण तथा मार्च २७ को उनको पुनर्जीवन प्राप्त हुआ था। यहाँ लक्ष्य करने का विषय है कि मार्च २४ और २५ को प्राचीन रोम में क्रम से उपज के देवता एटिस की मृत्यु और पुनर्जन्म तिथि की वर्ष-गाँठ मनायी जाती थी। सभी को मालूम होगा मार्च २५ को वासन्ती समरात्रि पड़ती है। अतः जाड़े के मौसिम में मृत-प्राय हरियाली के पुनर्जन्म उत्सव मनाने का यह सर्वोत्तम दिवस माना जाता था। उधर प्राचीन रोम, गाल (फ्रान्स), फ्रीजिया, कापाडोशिया प्रभृति देशों में मार्च २५ को मसीह के क्रूशारोपण की वर्ष-गाँठ मनायी जाती थी। ऐसी परिस्थिति में अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि एशियाई (फ्रीजियन) देवता एटिस का बहिष्कार करने के लिये मसीह की क्रूशारोपण तिथि मार्च २५ को तथा उनकी पुनर्जीवन-प्राप्ति की तिथि मार्च २७ को रख दी गयी।

उसी प्रकार कालान्तर में परीलिया नाम के उत्सव को हटा कर एप्रिल में सन्त जार्ज का दिवस मनाया जाने लगा; जून में ग्रीष्म ऋतु के जल-विहार के स्थान में सन्त जान का दिवस मनाने की प्रथा प्रचलित की गयी। अगस्त में डायना देवी का बहिष्कार कर माता मेरी के महाप्रस्थान की तिथि मनायी जाने लगी...इत्यादि[1]।

कहने का आशय यह है कि लोक-प्रिय बनने के अभिप्राय से पाश्चात्य देशों में जन-मत के आगे ईसाई मत को झुकना पड़ा, उसकी अनमनीय नैतिकता के मान में जान-बूझ कर कुछ बट्टा लगाना पड़ा। शिष्ट लोग इसे सहनशीलता कहेंगे, तथा विचारशील व्यक्ति इसे कूट-नीति कहेंगे। भारत में हिन्दू धर्म के प्रचारकों ने भी इन्हीं उपायों से काम लिया।

प्रस्तावना के रूप में इतनी बातें कह कर हमारे देश में प्राचीन काल में प्रचलित कुछ अर्द्ध-लौकिक मेले और उत्सवों का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

---

[1] दी गोलडन बाऊ (संक्षिप्त संस्करण), पृष्ठ ३५८-३५९,

इन्द्र-ध्वज का उत्तोलन

सभी को मालूम है कि वैदिक काल में इन्द्र भगवान् की लोक-प्रियता कितनी अधिक थी। परन्तु बौद्ध तथा जैन लेखकों ने क्रम से बुद्धदेव तथा महावीर स्वामी का गौरव और महत्त्व उभारने के लिये देव-राज इन्द्र और 'सहम्पति' ब्रह्मा को उनका अनुचर और भक्त श्रावक बना दिया। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि सनातन धर्म के अनुयायियों की दृष्टि में इन्द्र भगवान् की प्रतिष्ठा और मर्यादा बहुत दिनों तक बनी रही। यह सम्मान प्रदर्शित करने के लिये प्राचीन काल में प्रति वर्ष लोग नियत दिन पर इन्द्र-ध्वज अथवा इन्द्र-यष्टि का उत्तोलन करते थे।

इस उत्सव की प्राचीनता के बारे में कुछ मत-भेद है। बार्नेट आदि कुछ प्रमुख पाश्चात्य विद्वानों ने सम्मति प्रकट की है कि ऋग्वेद में भी इस उत्सव का उल्लेख हुआ है[1]। किन्तु सायनाचार्य प्रमुख भारतीय टीकाकारों ने उस ऋचा की व्याख्या इस दृष्टि से नहीं की है। तथापि जैनियों के प्राकृत भाषा में लिखित अंग और उपांगों में इसका कई स्थानों में उल्लेख हुआ है। भगवती सूत्र में 'इंद-लट्ठी' उत्सव के समाप्त होने का उल्लेख हुआ है[2], जब तनाव की डोरियाँ ढीली कर दी जाती थीं[3]। प्रश्न व्याकरण सूत्र से पता चलता है कि सजावट के लिये इन्द्र केतु के चारों ओर छोटे-छोटे झंडे गाड़ दिये जाते थे[4]।

महाभारत का कथन है कि चेदि-राज वसु ने पहले पहल इस उत्सव का श्री गणेश किया था[5]। भविष्य पुराण में जो विस्तृत निर्देश पाया जाता है उसके अनुसार २० ! २२ हाथ लंबा शाल्मली, चंपक, अर्जुन, कदंब जैसे वृक्षों की लकड़ी का बना हुआ एक सजा हुआ स्तंभ भादों के कृष्ण पक्ष की द्वादशी तिथि के प्रातःकाल डोरियों के सहारे धूम-धाम के साथ खड़ा कर देना चाहिये। इस स्तंभ की सजावट भी अनोखी हो। सुझाव दिया गया है लाल वस्त्र से

---

[1] ऋग्वेद १।१०।१, देखो अन्तगड-दसाओ, पृष्ठ २६ : [2] ६।३३;
[3] अंतगड, पृष्ठ ४४; [4] २।४।१; [5] १।६३।१८·····;

लपेट कर फूल-माला, बेल-बूटी, पीठी, घंटे, चामर तथा सुगंधित द्रव्यों से वह भरपूर सजाया जाय। इसकी चोटी पर सफेद रंग का एक छाता रहे। समग्र स्तंभ को कई एक पुर या खंडों में विभक्त कर प्रत्येक विभाग में एक-एक रंगीन झंडा लहरा दिया जाय। सात से नौ दिन तक यह उत्सव मनाने को कहा गया है। रात में प्रेक्षणक (नाटक), नृत्य-गीत, कुश्ती, जूआ, खेल-कूद और नाच-रंग किये जाँय। दर्शक लोग अपने इष्ट मित्रों से प्रेम से मिलें और दरिद्रों को दान देवें। लोग रात-रात भर जाग कर उल्लू, चमगादड़, कौए आदि अपवित्र जीवों की छूआछूत से उस ध्वज को बचावें[1]।

रामायण के अनुसार यह स्तंभ क्वार की पूर्णिमा को खड़ा किया जाता था[2] तथा उसको गिराते समय तनाव की डोरियाँ ढीली कर दी जाती थीं[3]। महाभारत में इस उत्सव के मनाने वाले नृपतियों की बड़ी सराहना की गयी है और साथ ही यह आश्वासन दिया गया है कि उनके राज्यों में क्षीर और मधु की नदियाँ बहती रहेंगी[4]। हरिवंश ने यह उत्सव शरत् काल में मनाने और इंद्र तथा उपेन्द्र (विष्णु) दोनों को पूजने का निर्देश दिया है[5]। भरत के नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि ब्रह्मा जी की इच्छा से इसी अवसर पर स्वर्ग में देवताओं ने पहले-पहल नाटक खेला था[6]।

बंगाल के कवि गोवर्धन आचार्य के एक श्लोक से ऐसा मालूम होता है कि उस प्रान्त में १२वीं शती के लगभग इस उत्सव का मनाना बंद हो गया था। कवि शोक प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'जिस इन्द्र-यष्टि का उत्थापन श्रेष्ठि लोग धूम-धाम के साथ करते थे, उसी का आजकल लोग या तो हल या जानवर बाँधने की खूँटी बनाते हैं!'

ऊपर के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि यह पर्व शरत् काल (भादों और क्वार) में मनाने की प्रथा थी जब नदी, ताल-तलैये लबालब भरे रहते थे, चारों दिशाओं में हरियाली लहलहाती रहती थी, अभी-अभी धुले हुए अपार

---

[1] २।२।८।८२; ४।१३६; [2] ४।१६।३७; [3] ४।१७।२;
[4] १।६३।२४-२९; [5] २।१६।४७-६०, [6] १।५४-५५;

आकाश की नीलिमा अधिकतर गाढ़ी भाने लगती थी। सर्वोपरि जब खरीफ की फसल काट कर खलियान में रखी जाती थी। अतः अनुमान किया जाता है कि प्रारंभ में इंद्रध्वज कृषि-संबंधित एक त्योहार रह चुका था, जिसके साथ कालान्तर में धार्मिक कृत्य जोड़े गये। आदि-वासियों के स्वाभाविक उत्सवों पर सनातन धर्म के रंग चढ़ाने का यह एक उज्ज्वल दृष्टान्त है।

इंद्र-ध्वज खड़ा करने की पद्धति से प्राचीन इंगलैंड में उत्थापित 'मेपोल' से मिलान किया जा सकता है। परोपकारी लुटेरे रॉबिन् हुड् की स्मृति में पहली मई को 'मे डे' का समारोह मनाने के प्रसंग में गाँव-गाँव में लोग नाच-रंग के साथ 'मे पोल' नाम का ध्वज खड़ा करते थे।

यूरोप के किसी-किसी देश में लोगों का ऐसा विश्वास है कि मे-पोल स्त्रियों का बाँझपन हटाता है और गौ को दुग्धवती बनाता है। जर्मनी के किसी-किसी भाग में मई १ को अस्तबल और गो-शालाओं के सामने एक-एक घोड़े और गौ के लिये अलग-अलग मई-पेड़ या मई-झाड़ लगाने की प्रथा है। किसानों का विश्वास है कि ऐसा करने से गायें अधिक दूध देने लगेंगी। इसी प्रकार अधिक दूध मिलने की आशा से आयरलैंड में भी 'मई दिवस' को घर के सामने किसी पेड़ की हरी डाल टाँग दी जाती है। यूरोप के महाद्वीप में उस दिन जो जिस कुमारी से प्रेम करता है, उसके घर के सामने या दरवाजे पर हरी डाल रख या टाँग देता है।

सत्रहवीं शती के अन्तिम पाद में वेस्ट मीथ जिले (इंगलैंड) का वर्णन करते हुए हेनरी पायर्स लिखता है कि ऐसे देहाती इलाकों में जहाँ लकड़ी बहुत होती है 'मई-दिवस' के मनाने के प्रसंग में अधिकतर घरों के सामने लकड़ी के बने हुए ऊँचे और झीने पेड़ लगाने की रीति है, तथा साल भर वे हटाये नहीं जाते। फलतः नये आने वालों को प्रत्येक घर कलवरिया जैसी मालूम देता है।

इंगलैंड के उत्तरी भाग में मध्य रात को मई १ होते ही नवयुवक और युवतियाँ गाजे-बाजे के साथ तुरही फूँकते और हल्ला-गुल्ला करते हुए जंगलों में चली जाती थीं। वहाँ वे पेड़ों की हरी टहनियाँ काट कर फूल-माला इत्यादि से उन्हें खूब सजाती थीं। फिर पौ फटते ही घर लौट कर उस डाल को वे घर

के सामने लगा देती थीं। जर्मनी और फ्रांस के बीच आलसेस् में उस दिन मई पेड़ हाथ में लेकर मनुष्यों के छोटे-छोटे झुंड घूमते फिरते हैं। इनमें से सफेद् कमीज पहने हुए एक मनुष्य के मुँह पर कारिख पोत दी जाती है। वह जन-यात्रा के आगे-आगे चलता है तथा उसके सामने एक बड़ा भारी मे-पेड़ ले जाया जाता है।

मदन-महोत्सव

वात्स्यायन के कामसूत्र में संभवतः इसी महोत्सव का नाम 'सुवसंतक' पड़ा है[1], जब वसंत ऋतु की अगवानी करने के प्रसंग में नागरिक और नागरिकाएँ नृत्य-गीत करने में तल्लीन हो जाती थीं।

भास-रचित चारुदत्त नाटक में इसी प्रकार के एक पर्व का नाम 'कामदेवानुयान' पड़ा है। नाटक के वर्णानुसार कामदेव का चित्र लेकर बाजे गाजे के साथ नागरिकों का भारी जलूस निकाला जाता था। इसी प्रसंग में राज-श्यालक के पीछे लगने के कारण अस्त-व्यस्त होकर वसंतसेना ने चारुदत्त के घर में आश्रय लिया था[2]।

गरुड़ पुराण में सुझाव दिया गया है कि मदन-त्रयोदशी का व्रत साल भर चालू रखा जाय, अर्थात् अगहन की अनंग त्रयोदशी को आरंभ कर कार्त्तिक की मदन त्रयोदशी को समाप्त किया जाय। प्रति महीने में शिव जी की भिन्न-भिन्न मूर्त्ति के पूजन का निर्देश दिया गया है। उद्यापन अथवा व्रत-समाप्ति के अवसर पर काम और रति को होमादि कर पूजने को कहा गया है। नृत्य-गीत कर रात्रि जागरण का प्रस्ताव भी किया गया है[3]। किंतु यह तो एक ऐसा व्रत था, जिसमें व्यक्तिगत रूप से एक ही मनुष्य उसका पालन कर सकता था।

दशकुमार चरित के कथनानुसार बालचन्द्रिका प्रमुख सहेलियों के साथ राजा मानसार की पुत्री, अवन्ती सुन्दरी ने उस दिन देहात में स्थित एक वाटिका में जा, आम के एक किशोर पेड़ की स्निग्ध छाया में बालू की ढेर बना कर

---

[1] १।४।४२; [2] प्रथमांक; [3] १।११७।१-१९;

मदन महाराज को पूजा चढ़ायी थी। उसी समय कुमार राजवाहन के वेश में उसका आराध्य देवता उसके सामने उपस्थित हुआ। तभी से दोनों में पूर्वराग का सूत्रपात हुआ[१]। पुनः उसी ग्रंथ में और एक स्थान में संभवतः इसी उत्सव का नाम कामोत्सव दिया गया है। अंग राज्य के शासक एक सायेदार उपवन में हँसी-खुशी के साथ यह उत्सव मनाता रहा। इसी अवसर पर काम-मंजरी नाम की एक वेश्या ने मरीचि मुनि को बहका कर बाजी मार ले गयी[२]।

भविष्य पुराण में कहा गया है कि वसंत काल की शुक्ला त्रयोदशी को सेंदुर द्वारा काम और रति की मूर्त्तियाँ अंकित कर लोग समारोह के साथ उनका पूजन करें। दोपहर को गण-भोज होवे; तथा रात में काम देव के स्थानीय मंदिर में नृत्य-गीत, अभिनय आदि किया जाय। 'इस उत्सव के उपलक्ष्य में सारा मंदिर दीयों से सजाया जाय। उक्त पुराण में इस उत्सव का नाम 'चैत्रोत्सव' भी दिया गया है[3]।

वर्ष-क्रिया कौमुदी में शैवागम से वचन उद्धृत कर कहा गया है कि चैत की शुक्ला चतुर्दशी तिथि को मदन-महोत्सव मनाने के प्रसंग में प्रातःकाल एक पहर तक गाने-बजाने के साथ गाली-गुपता बकते हुए और कीचड़ प्रभृति उछाल कर यह त्योहार मनाया जाय। फिर दोपहर में लोग वस्त्र-आभूषण, माला, गंध द्रव्य आदि द्वारा साज-सजावट करें[४]।

साहित्यिक उल्लेख काफी होने पर भी सभी को मालूम है कि मुख्यतः ऋतु-परिवर्त्तन से संबंधित यह उत्सव बहुत दिनों से अलग रीति से मनाने की चाल नहीं है। संभवतः कालान्तर में इस उत्सव का होली के त्योहार में विलयन हो गया है। यहाँ उल्लेख-योग्य विषय यह है कि रत्नावली नाटिका में जो होली मनाने के उत्सव का सजीव चित्रण किया गया है, उसका नाम 'वसन्तोत्सव' तथा 'मदनोत्सव' दोनों दिया गया है[५]।

इस प्रसंग में स्मरणीय है कि [illegible] के अनुसार प्राचीन [illegible] में फल-[illegible] [illegible] के सम्मान में [illegible]

खेतों में जा नृत्य-गीत कर ऋतु-परिवर्त्तन संबंधी यह उत्सव समारोह के साथ मनाती थीं। यह पर्व भी स्पष्टतः वसंतोत्सव ही था।

भूत-माता महोत्सव

स्कंद पुराण में निर्देश दिया गया है कि वैशाख के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से अमावास्या तक पाँच दिन, दैवी आपत्तियों को टालने तथा सुन्दर संतति प्राप्त करने के लिये धूम-धाम के साथ भूत-माता के सम्मान में महोत्सव मनाया जाय। साथ ही यह आश्वासन दिया गया है कि इस उत्सव के मनाने से भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी, पिशाच, राक्षस आदि अमानुषी जीवों के उपद्रव से छुटकारा मिलता है। चार दिन तक भक्त्या पूजन करने और भोग चढ़ाने के अनन्तर अमावास्या को सज धज के साथ सवारी निकाली जाय। प्रतिदिन रात को नाटकों का अभिनय होवे तथा शिक्षाप्रद रूपक आदि दिखाये जाँय[1]।

भविष्य पुराण में इस उत्सव का जो विवरण प्राप्त होता है उसमें ज्ञात होता है कि भूत-माता और उसके सहचर दोनों पार्वती से उत्पन्न हुए थे तथा इस उत्सव को लोग बड़े उत्साह से मनाते थे—यहाँ तक कि आनंद की अधिकता के कारण कुछ लोग पागल जैसे आचरण करते थे। युधिष्ठिर कहते हैं—"नाचते-गाते, हँसते-खेलते लोग रमते-फिरते हैं, पागल जैसे अंड-बंड बकते हैं, अशिष्ट हाव-भाव बताते हैं, धूल में लोट-पोट करते हैं तथा वायु ग्रस्त जीव जैसे शरीर में कीचड़ प्रभृति पोतते हैं।" अंतर केवल इतना ही है कि भविष्य पुराण का निर्देश है कि यह उत्सव जेठ में मनाया जाय, वैशाख में नहीं[2]।

यहाँ लक्ष्य करने का विषय यह है कि यद्यपि इस प्रकार के कुछ अमानुषी जीवों के अस्तित्व के बारे में वैदिक काल के लोग विश्वास करते थे तथापि 'प्रेत' शब्द संहिता या ब्राह्मण में कहा आया नहीं; भूत, शाकिनी, डाकिनी आदि जीवों की बात कहना ही क्या! शतपथ ब्राह्मण में अवश्य एक ही स्थान में 'प्रेत' शब्द का उपयोग हुआ है; परन्तु वहाँ प्रेत शब्द

[1] प्रभासक्षेत्र माहात्म्यम्, १६७।७०......; [2] ४।१३६;

का अर्थ है शव अथवा मृत देह[१]। भूत आदि कोई अमानुषिक जीव नहीं! बृहदारण्यक उपनिषद् में भी उसी अर्थ में 'प्रेत' शब्द का प्रयोग हुआ है[२]। आगे चलकर उत्तर वैदिक काल के साहित्य में श्राद्ध-तर्पणादि के प्रसंग में प्रेत शब्द का उपयोग काफी है। प्रत्युत पेतवत्थु, विमान वत्थु आदि पालि पुस्तकों से पता चलता है कि बौद्ध मत के अनुयायी भूत-प्रेतों के अस्तित्व में विश्वास करते थे। उसी प्रकार उवासग-दसाओ से विदित होता है कि जैन लोग भी पिशाच आदि जीवों के अस्तित्व में विश्वास करते थे। अतः अनुमान किया जाता है कि भूत-माता महोत्सव का संबंध वैदिक धर्म से कदाचित् ही रहा होगा। अमानुषी जीवों के भय से उद्धार पाने के भरोसे भूतों की जन्म देने वाली देवी का पूजन शायद ही आर्योचित था! तथापि साहित्यिक उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि सातवीं शताब्दी से तेरहवीं शती तक यह त्योहार धूम-धाम के साथ मनाया जाता था। आजकल हम लोग यह उत्सव नहीं मनाते। कुल प्रमाणों पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि इस उत्सव का उत्स लौकिक था, तथा यह उत्तर काल में पिछले दरवाजे से हिन्दू धर्म में सम्मिलित हो गया होगा। ठप्प हो जाने पर भी इसकी कुछ विशेषताएँ—जैसे अंड-बंड बकना, कुत्सित् हाव-भाव बताना इत्यादि होली मनाने की रीति-रिवाज में कहीं-कहीं देखी जाती हैं।

नाग पंचमी

बड़े प्राचीन काल से साँपों का संबंध सृष्टि-तत्त्व तथा उपज बढ़ाने से रह चुका है। "धरती के नीचे, बिलों में रहने के कारण प्राचीन पृथ्वी के लोगों ने पैदावार के साथ उनका नाता जोड़ दिया; फिर कहीं-कहीं लोगों का ऐसा विश्वास था कि वह पानी दे भी सकता है, तथा उसे रोक भी सकता है। इस प्रकार नाग को लोग उपज का अधिष्ठाता देवता मानने लगे। क्रमशः वह गड़े हुए गुप्त धन का भी पहरेदार माना गया। फिर दलदल और कीचड़ से भरी हुई भींगी भूमि के अड़ोस-पड़ोस में रहने तथा उसकी गति नदी की चाल जैसी

---

[१] १०।५।२।१३; [२] ५।११।१;

टेढ़ी-मेढ़ी होने के कारण—पानी के साथ उसका घनिष्ठ संबंध स्थापित हो गया"[1]। पुनश्च जो देवता भूमि की उपज बढ़ा सकता है, उसके लिये स्त्रियों का बाँझपन हटाकर उन्हें पुत्रवती बनाना कोई कठिन काम नहीं। कम से कम इस प्रकार की विचार-धारा युक्ति-युक्त है। अतः कालान्तर में नाग देवता सृष्टि-तत्त्व के भी प्रतीक माने गये। ऐसी दशा में महामायी मत के अनुयायी सभी देशों में देवी जी के साथ-साथ नागों की अर्चा करने की प्रथा चल निकली।

चीन के निवासियों का विश्वास है कि नाग देवता पानी बरसाते हैं। प्राचीन मिश्र में वह उपज और फसल की अधिष्ठात्री देवी रन्नत का प्रतीक माना जाता था; पुनः धरती के देवता सेब नाग-पति माने जाते थे तथा उनका सिर साँप जैसा होता था। बेबिलोनिया में खेत और गाँवों की सीमा निर्धारित करनें के लिये ऐसा एक पत्थर का ढोंका रख देने की प्रथा थी, जिस पर नाग की मूर्त्ति बनी रहती थी। इस तरह वह ग्राम-देवता तथा क्षेत्रपाल निन्नी का प्रतीक माना गया। उसी प्रकार एन्लील की धर्मपत्नी, महामायी निन्लील बेबीलोनिया के पौराणिक साहित्य में 'उसुंगल' या स्वर्ग और मर्त्य-लोक की महा-नागिन मानी गयी। रिमोन की धर्मपत्नी शल भी नाग-देवी मानी जाती थी। साइप्रस द्वीप में पफोस की महादेवी का प्रतीक एक खंभा था, जिसके चारों ओर साँप लिपटे हुए थे। नस्सोस के राजमहलों की देवियाँ साँपों से घिरी हुई हैं[2]। काफ्र्यु के एक प्राचीन मंदिर में आर्टिमिस् की एक मूर्त्ति मिली थी जिसके हाथों में एक सर्प था। शाम में कनान की महादेवी असटार्ट भी हाथों में एक साँप लिये हुई है। प्राचीन काल के यहूदी और अरब वाले साँपों को कूँओं के अधिष्ठाता देवता मानते थे; उनका यह भी विश्वास था कि वे नदी-नालों को पानी से लबालब भर सकते और उनको सुखा भी सकते थे। शाम में नागों के नाम के अनुसार सोतों का नाम रखा जाता था। यूनान में 'धरती का पुत्र' नाग का उपज से घनिष्ठ संवंध था। वे आसक्लेपियस् के प्रतीक माने

---

[1] एन्साईक्लोपीडिया अव् रिलिजन एण्ड एथिक्स, ११।३९९;

[2] केम्ब्रिज ऐन्शेन्ट हिस्ट्री, प्लेटस्—१।११६;

जाते थे तथा मंदिरों में उनका पालन-पोषण होता था और समय-समय पर उनका पूजन भी होता था। उनकी देखभाल करने के लिये चिरकुमारी कन्याएँ होती थीं। विशेष अवसरों पर उन्हें दिगंबरी बन कर साँपों के साथ संसर्ग करने के लिये पहुँचना पड़ता था। धरती माता गेइया के बेटे पाइथन का स्वरूप सदा साँप का है। प्राचीन यूनान की राजधानी, एथेन्स की अधिष्ठात्री देवी, एथिनी के मंदिर में कुछ साँप पाले-पोसे जाते थे। इनको मीठी रोटियाँ खिलायी जाती थीं। हमारे देश में अभी तक दुर्गा देवी के परिवार में एक नाग भी देखने में आता है। पुनः शिव भगवान् के माथे पर फण फैलाये हुए बहुधा सर्प की मूर्त्ति देखी जाती है। इस प्रकार प्राचीन काल में जिन-जिन देशों में महामायी मत का प्रचार था, उन उन देशों में सर्प-पूजन की प्रथा प्रचलित थी।

महिंजोदड़ो के खंडहरों में आधे नर और आधे सर्प रूपी नाग मूर्त्ति के अतिरिक्त एक योगी के अगल बगल बैठे हुए सर्पों की मूर्त्ति समेत ठप्पे भी मिले हैं[1]। पुनश्च हमें ठीक ठीक पता है कि सर्प-पूजन द्रविड़ संस्कृति का अनिवार्य अंग रह चुका था। परन्तु यह प्रथा निश्चित रूप से वैदिक कहने में कुछ हिचक-सी आती है। ऋग्वेद में 'अहि' द्वारा काटे हुए मनुष्य को स्वस्थ करने के प्रसंग में 'मधु विद्या' की चर्चा की गयी है[2]। तैत्तिरीय संहिता में अश्वमेध यज्ञ के सिलसिले में अन्यान्य जीवों के साथ 'लोहिताहि' और 'वाहस' जाति के साँपों को बलि चढ़ाने का सुझाव दिया गया है[3], तथा अथर्व वेद में बहुत से साँपों के नाम मिलने के अतिरिक्त डाकुओं के हाथ से बचने के लिये केंचुली का यंत्र धारण करने का भी निर्देश दिया गया है[4]। किन्तु संहिता ग्रंथों में कहीं नाग-पूजन की चर्चा नहीं की गयी है; अवश्य, आगे चलकर उत्तर काल में रचित ब्राह्मण ग्रंथों में कहीं-कहीं तोषण का प्रस्ताव किया गया है[5]। फिर बाद में रचित श्रौत और गृह्य सूत्रों में नाग-बलि या श्रवणा कर्म

---

[1] मार्शल का महिंजोदड़ो; प्लेट ११; २६; ११६; ११८; [2] १।११६१।८; [3] ४।५।१३।१ = मैत्र० ३।१४।१२ = वाज० २४।२४; [4] १२।१।४६; [5] तैत्तिरीय ब्रा० १।४।६।६; कौषीतकि ब्रा० २७।४ इत्यादि;

का स्पष्ट उल्लेख है[१]। तदनुसार श्रावण की पूर्णिमा से अगहन तक प्रतिदिन शाम को घी के साथ सना हुआ सत्तू साँपों को चढ़ाने की प्रथा थी।

उपर्युक्त प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि संहिता काल में अहि के दंशन से आर्य लोग बहुत डरते थे; पश्चात् काल के ब्राह्मण ग्रंथों की रचना होते समय तक वे सांपों का तोषण करने लगे थे तथा सूत्र-काल तक पहुँचते-पहुँचते वे नागों को पूजने भी लग गये। इस प्रकार सर्प-पूजन की प्रथा कालान्तर में वैदिक धर्म में सम्मिलित हो गया।

नाया-धम्म कहाओ में सर्प-पूजन के उत्सव का नाम नाग-यत्ता (यात्रा) पड़ा है। इस अवसर पर साकेत के इक्ष्वाकु वंश के राजा प्रतिबुद्धि और उनकी धर्म-पत्नी पद्मावती ने मोर के पंख की बनी हुई कुँची से नाग-देवता की मूर्त्ति को झाड़कर सुगंधित जल से उसे नहलाया, फिर फूल-माला और धूप-दीप से उसकी अर्चा की[२]। गरुड़ पुराण में सुझाव दिया गया है कि नाग पंचमी के दिन घर की दोनों बगल में नाग की मूर्त्ति खींचकर अनन्त प्रमुख महानागों का पूजन किया जाय[3]।

स्कन्दपुराण के नागर खंड में कहा गया है कि सावन की पंचमी को चमत्कारपुर में रहने वाले नागों को पूजने से मनःकामना की पूर्त्ति होती है[४]।

नारदपुराण में साँप के डँसने से बचने के लिये कार्त्तिक शुक्ला चतुर्थी को नाग-व्रत करने का विधान है[५]। आगे चल कर सुझाव दिया गया है कि परिवार के सभी सदस्यों को सर्प के दंशन से बचाने के लिये भादों की कृष्णा पंचमी को नागों को दूध पिलाया जाय[६]। भविष्यपुराण का कथन है कि महोबा आदि नगरों में यह उत्सव कुश्ती और नृत्य-गीत करके मनाया जाता था[७]।

प्राचीन परंपरा के अनुयायी होकर अभी तक यह उत्सव किसी न किसी रूप में लगभग सभी प्रान्तों में प्रतिवर्ष समारोह के साथ मनाया जाता है।

---

[१] सांख्यायन श्रौत० १०।१२।२६; आपस्तम्बीय गृह्य० ७।१८।१०; गोभिल, ३।७।१३ इत्यादि। [२] १।८।४४; [3] १।१२९।२७-२८; [४] ३।१।३९; [५] १।११३।९१; [६] १।११४।२२-२४; [७] ४।३।१०।२८; २६।१......;

उत्तर प्रदेश में वर्षा काल में जब चारों दिशाओं में साँपों की भरमार रहती है, उसी समय नाग पंचमी के दिन समारोह के साथ यह उत्सव मनाने की प्रथा है। पूर्वी बंगाल, छोटा नागपुर प्रभृति प्रान्तों में इन्हीं दिनों 'सर्प-राज्ञी' मनसा देवी की अर्चा की जाती है। राजपूत पौराणिक काल के पीपा, तेजा जी प्रमुख नाग राजाओं को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं तथा धूम-धाम के साथ नाग पंचमी का उत्सव भी मनाते हैं। गुजरात और काठियावाड़ में भी नागों को पूजने की प्रथा है। मैसूर के कोमटि समुदाय की स्त्रियाँ पुत्र प्राप्त करने की कामना से प्रेरित होकर नागों की मूर्त्ति बनाकर पूजती हैं। दक्षिणी भारत के वेदर समुदाय, कनारी ब्राह्मण और मद्रास के लोम्बडी जाति के लोगों में विवाह के अवसर पर सर्प-पूजन करने की प्रथा है। वोगेल का कथन है कि पश्चिमी और दक्षिणी भारत में सन्तान प्राप्त करने की आशा से विवाहिता स्त्रियाँ सर्प-पूजन करती हैं[1]। गौरी पूजन के प्रसंग में हिन्दू महिलाएँ बाँझपन दूर करने के लिये नागों को पूजती हैं[2]। हमारा दृढ़ विश्वास है कि सोते समय नागों का स्वप्न देखने से वंश-वृद्धि होती है। पुनः पुराण और इतिहासों का कथन है कि नाग-पुरी सदा-सर्वदा पानी के नीचे होती है। तदनुसार कश्मीर में बहुत से चश्मे और सोतों के नाम नागों के नामानुसार पड़ा है, जैसे अनंत नाग, भेरी नाग इत्यादि। ऊपर के वर्णन से यही निष्कर्ष निकलता है कि—

(१) सर्प-पूजन की प्रथा महामायी मत का अंग है;

(२) दोनों सृष्टि-तत्त्व से संबद्ध हैं;

(३) नागों के साथ पानी का घनिष्ठ संबंध है।

दीपान्विता या दीवाली

सभी को विदित है यह उत्सव हमारे देश में बड़ा लोक-प्रिय है और त्रयोदशी या तेरस से लेकर भ्रातृ-द्वितीया या भैयादूज तक इसका क्रम जारी रहता है। दीवाली के प्रसंग में घर-बार की सफाई; नये कपड़े, गहने, बासन

---

[1] दी सर्पेन्ट लोर, पृष्ठ १६; [2] इंडियन ऐन्टिक्वरी, १८७४।५

आदि खरीदने की धूम और मिठाई की ढेरी से बूढ़ों से बच्चों तक सभी कोई परिचित हैं। बहुत से घरों में पूजा-पाठ करने की प्रथा भी है। व्यापारी लोग बही-खाता बदलने में व्यस्त रहते हैं तथा किसी-किसी प्रान्त में नव वर्ष का स्वागत-अभिवादन करने की भी रीति है। यह तो है बीसवीं शताब्दी में कार्यतः हमलोग जिस ढंग से दीवाली मनाते हैं उसकी परिपाटी।

प्रत्युत प्राचीन काल में इस त्योहार के मनाने का विस्तृत विधान लगभग चौथी शती में संकलित पद्म-पुराण[1] और सातवीं शताब्दी में संकलित स्कंद पुराण[2] में पाया जाता है। अब संक्षेप में उसी का वर्णन किया जाता है।

कार्तिक के कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी (तेरस) को यमराज को प्रसन्न करने तथा अपमृत्यु से बचने के लिये उस दिन संध्या को दीप बलि देने या दीये बारने का निर्देश दिया गया है। कहा जाता है कि हेमनक के नाबालिग बेटे ने इसी उपाय से अपनी जान बचायी थी।

चतुर्दशी कृत्य

लक्ष्मी जी की कृपा प्राप्त करने के लिये उस दिन प्रातःकाल तेल न लगा लौकी सिर पर रख कर अपामार्ग (चिरचिरी) और प्रपुन्नाड़ (पुन्ना) शाक माथे पर घुमाते हुए स्नान करने को कहा गया है। तदनन्तर यम के पुत्रों के सम्मान में दीप-दान देने तथा यमराज को प्रसन्न करने के लिये तर्पण करने की व्यवस्था दी गयी है। इस तिथि का और एक नाम प्रेत-चतुर्दशी भी है। चतुर्दशी से प्रतिपदा, तीन दिन, सारे संसार पर दैत्य-राज बलि का शासन प्रचलित होता है। अतः उनको प्रसन्न करने के लिये प्रति दिन संध्या समय दीप-दान देने का सुझाव दिया गया है। ऐसे घरों में लक्ष्मी जी स्थायी रूप से बसती हैं। देवी के उपासकों को निर्देश दिया गया है कि वे सज-धज कर दीप-मालिका द्वारा प्रकाशमान महारात्रि देवी का पूजन करें। इस दिन माष-पत्र शाक अवश्यक खाया जाय।

---

[1] उत्तर खंड, १२२; [2] कार्त्तिक मास माहात्म्यम्, ६-११;

अमावास्या कृत्य

दिन भर व्रती रह कर संध्या को लक्ष्मी पूजन का विधान है। घर-बार, राजमहल, मठ, मंदिर, सरकारी भवन, घाट, चौमुहानी आदि दीये, फूल-माले और झंडे आदि से खूब सजाये जांय। शासकों को निर्देश दिया गया है कि उस दिन से प्रतिपदा तक वे शासन की बागडोर शिथिल कर प्रजा को मनमाना करने का सुयोग देवें। लोग मन भर जीव-हत्या, सुरापान, व्यभिचार, चोरी और धोखेबाजी करें; उनको दंड न दिया जाय। अलक्ष्मी को घर से बहिष्कृत करने के लिये रात को स्त्रियां सूप और डुग्गी बजाते हुए सड़क पर घूमें। जूआ खेल कर और नाच-गान द्वारा रात जागरण किया जाय।

प्रतिपदा कृत्य

इस तिथि का नाम बलि-प्रतिपदा पड़ा है। सुझाव दिया गया है कि सारा दिन लोग आमोद-प्रमोद करते रहें। इस दिन की करनी का फल वर्ष भर भोगना पड़ता है, अतः भले काम करने में लोग लगे रहें। प्रातःकाल गो-पूजन करें। गो-वर्द्धन पूजा से निवृत्त हो राजा साधु-संतों से मिलें और रनवास की स्त्रियों को कपड़े-गहने, पान, फूल, कपूर आदि का उपहार देवें। तदनन्तर मंच पर बैठ कर कुश्ती तथा सांड़, भैंसे आदि पशुओं का युद्ध देखें। तीसरे पहर दुर्ग-स्तंभ से निकट के एक पेड़ तक एक रस्सी बांधी जाय जिसका नाम 'मार्गपाली' वा पथ अवरोधक था। राजा, उपराजा, ब्राह्मण, पशु आदि सभी को इस रस्सी के नीचे से पार करने कहा गया है, जिससे वर्ष भर वे नीरोग और स्वस्थ रहें। इसी समय गो-क्रीड़ा भी मनायी जाय। तदनुसार बाजे-गाजे के साथ सुसज्जित गो-धन नगर के बाहर ले जाये जाँय और वहीं उनकी आरती भी की जाय। अन्त में राज-कुमारों और दूसरी जाति के बालकों के बीच 'यष्टिवाकर्षण' अथवा रस्सी-खींचा-खींची का होड़ हो। इसकी हार-जीत पर वर्ष भर का शुभाशुभ निर्भर होता है, अतः राजा स्वयं इसकी देख-रेख करें। रात को धूमधाम के साथ लोग बलि राज और उनकी पत्नी विन्ध्यावली का पूजन करें। इस रात को भी दीप-दान उत्सव मनाया जाय और लोग जूआ खेल कर रात में जागें।

द्वितीया कृत्य

अतीव पुनीता इस तिथि का दूसरा नाम यम द्वितीया, और भ्रातृ-द्वितीया भी है। इस दिन का कार्य क्रम यह होवे— प्रातःकाल स्नानादि से निपट कर लोग ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सरस्वती देवी का पूजन करने के अनन्तर वेदज्ञ ब्राह्मण को गो-दान देवें। पश्चात् गुरु जनों को प्रणाम कर उनको फल-फूल का उपहार देवें। उस दिन किसी भी दशा में अपने घर में भोजन नहीं करना चाहिये। अपनी बहन के यहाँ और सगी बहन न रहने से भगिनी के समान किसी के घर भोजन करना चाहिये। इसी दिन यमुना ने अपने भाई यम को खिलाया था। घर में शान्ति प्राप्त करने और बाहर से आयी हुई विपत्ति को टालने के लिये बहन को कपड़े, गहने आदि देना चाहिये। इसी प्रसंग में शासकों को निर्देश दिया गया है कि अपनी बहनों से मिलने के लिये वे बंदियों को एक दिन की छुट्टी दे देवें।

भविष्य पुराण में उपर्युक्त निर्देशों की पुनरावृत्ति की गयी है[1]। नारद पुराण का वर्णन अधूरा है[2]। सातवीं शताब्दी में रचित नागानन्द नाटक के चतुर्थ अंक में 'दीप-प्रतिपदा' के अवसर पर कन्या और जामाता को नये वस्त्रादि उपहार में देने की प्रथा का उल्लेख किया गया है। आठवीं शती में रचित जैन हरिवंश का कथन है कि कार्त्तिकी अमावास्या के तड़के महावीर स्वामी ने शरीर छोड़ा था (५वीं शताब्दी ई० पू०)। भगवान् के दम छूटने के अनन्तर सुरासुरों ने मिलकर उनके शव की पूजा की तथा संध्या समय समग्र पावा नगरी दीयों से सजायी गयी[3]। जैनियों की धारणा है कि तभी से दीपावली पर्व मनाने की प्रथा चल निकली।

अन्ततोगत्वा ११ वीं शताब्दी में जिस ढंग से यह उत्सव मनाया जाता था उसका वर्णन करते हुए अल-बेरुनी लिखता है कि "कार्त्तिक के प्रारम्भ में दीवाली का त्योहार मनाया जाता है। प्रातःकाल स्नानादि से निपट, सज-धजकर

---

[1] ४।१४।१८-२७; [2] १।१२२।४६-४७; १०३।४६-४७; ११।११८-२१;
[3] २।६६।१६-१९; कल्पसूत्र, ४।१२८ और टीका;

लोग पान-सुपारी का उपहार देते लेते हैं; मंदिरों में जाते और इसी प्रकार क्रीड़ा-कौतुक कर आनंद मनाते हैं। रात्रिकाल नगर दीयों से सजाया जाता है। लोगों का विश्वास है कि उक्त अवसर पर बलि राज का शासन प्रचलित होता है"[1]।

परंतु आश्चर्य का विषय है कि हिन्दुओं के इतने बड़े त्योहार का नाम तक तीसरी शती के लगभग रचित वात्स्यायन के कामसूत्र में नहीं मिलता। सम्भवतः उनके दिनों में इस त्योहार को शिष्ट जनों की मान्यता नहीं प्राप्त हुई होगी और विशुद्ध लौकिक रीति से वह मनाया जाता रहा होगा। यदि पूजा-पाठ, स्नान-दान, हवन-तर्पण आदि धार्मिक कृत्यों को जो संभवतः उत्तर काल में जोड़े गये थे, अलग कर दिया जाय, तो बचा-खुचा जो भी कुछ रह जाता है वह है—बलि महाराज का तीन दिन व्यापी शासन और दीप दान।

त्योहार के तीन दिनों के लिये जनता पर से संघटित सरकार के सारे अंकुश हटा लेने का सुझाव दिया गया है, जिससे पाशव प्रवृत्ति चरितार्थ करने का सुयोग उसे मिले। तथाकथित दैत्यों के राज्य-काल में वैयक्तिक स्वतंत्रता का आदर्श यदि इस प्रकार का रहा होगा तो अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि उस समय भारतीय समाज का संघटन अधूरा रहा होगा; अतएव अड़ोस-पड़ोस के लोगों की सुख-सुविधा की ओर ध्यान न देकर लोग मनमाना करते थे। दूसरे शब्दों में पशु-शक्ति ही न्याय और अधिकार के स्रोत समझे जाते थे और विवेक का बाजार मन्दा था। ऐसा समाज कदाचित् संघटित या शिष्ट समझा जा सकता है। तथापि इस त्योहार की अति प्राचीनता के विषय में यह प्रथा एक प्रकृष्ट प्रमाण माना जा सकता है, जिसे जन-जनार्दन अपने ढंग से मनाते रहे। उत्तर काल में धार्मिक चोला पहना कर शिष्ट समाज की मान्यता दिलाने का श्रेय पद्म पुराण को है।

दीप दान के विषय में जैन हरिवंश का वक्तव्य कुछ अतिरंजित-सा प्रतीत होता है। अतएव दीवाली के अतिरिक्त कार्त्तिकी पूर्णिमा जैसे कई पर्व हैं जब हिन्दू लोग दीप-दान करते हैं। संभवतः यह एक समानान्तर प्रथा रही

---

[1] २।१८२;

होगी। परन्तु दीवाली के उपलक्ष्य में दीप-दान प्रथा का व्यावहारिक मूल्य से सभी कोई परिचित हैं। वह यह है कि दीवाली की दीया देखते ही बरसाती कीड़े-मकोड़े क्रमशः गायब होने लगते हैं। उपर्युक्त कुल बातों की जाँच-पड़ताल करने से ऐसा विश्वास होता है कि दीवाली उत्सव का आधार लौकिक था और इसका संबंध मुख्यतः ऋतु-परिवर्त्तन से था जिसको आगे चलकर सनातन धर्म ने अपना कर शिष्टों को मान्यता दिलायी।

प्राचीन पृथ्वी के किसी-किसी देश में विशेष-विशेष अवसर पर दीप-दान-प्रथा के प्रचलन का प्रमाण पाया जाता है। मिश्र और शाम में दिसम्बर २५ को सूर्य देवता के जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में इस प्रकार दीप-दान का विधान था। आगे चलकर जब ईसाई मत ने मसीह का जन्म-दिन दिसम्बर २५ को नियत किया तब भी दीप-दान की प्रथा चालू रही। अभी तक ईसाई लोग उस दिन अपना अपना घर-द्वार आलोक-माला द्वारा सजाते हैं।

पुनः दिसम्बर में दक्षिणायन के होने पर प्राचीन मिश्र में प्रारम्भिक दशा में ओसिरिस की मृत्यु के उपलक्ष्य में घर-घर से तेल के दीयों की मालाएँ बाहर लटका दी जाती थीं। ये दीये रात भर बरते थे। कालान्तर में मृतक मात्र के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिये नवम्बर के तीसरे सप्ताह में यह उत्सव मनाने की प्रथा चल निकली। मिश्र के निवासियों का ऐसा विश्वास था कि उस दिन मृतकों की आत्मा अपने पुराने घर को लौट आती है। इसलिये उनका स्वागत करने के लिये वे भोजन के द्रव्यादि रख देते और समाधि-स्थल से घर तक के सारे मार्ग में दीये बार देते थे।

होलिका-दाह या होली

शीतकाल की जड़ता त्याग कर प्रकृति देवी जब नये रूप-रंग और साज-सिंगार से शोभित हो प्रति वर्ष आविर्भूत होती हैं, तब चिरकाल से भारत के निवासी उनकी अगवानी करते आये हैं। फागुन की पूर्णिमा उसका चरम विन्दु माना गया है। वैदिक काल में इसी दिन नव वर्ष का शुभारंभ माना जाता तथा कर्म-काण्डी लोग इसी दिन से प्रथम चातुर्मास्य से संबंधित वैश्वदेव यज्ञ का

श्रीगणेश करते थे। परन्तु वैदिक कर्म-काण्ड से जनता का संपर्क कम था। वह अपने ढंग से ऋतु-राज का स्वागत-समारोह मनाती आयी है। ई० पू० तीसरी शताब्दी की खोदी हुई सीताबेंगा कंदरे (भूतपूर्व सरगुजा रियासत के अन्तर्गत रामगढ़ पहाड़ी में) के एक शिलालेख में इस उत्सव का उल्लेख किया गया है[1]। इस लेख में उक्त त्योहार का नाम 'दुले वसन्तिया' दिया गया है। साथ ही पता चलता है कि 'पूर्णिमा तिथि' को यह उत्सव मनाया जाता था जब "कुंद कुसुम का बना हुआ मोटा गजरा पहनकर नृत्य-गीत के साथ नाना प्रकार के कौतुक द्वारा लोग मनोरंजन करते थे।"

दूसरी शती के लगभग संकलित जैमिनी के मीमांसा-दर्शन में होलाकाधिकरण नाम का एक अध्याय जोड़ कर विशुद्ध इस लौकिक त्योहार का हिन्दूकरण हुआ[2]। साथ ही यह विधान बना दिया गया कि ऐसी रीति-नीतियाँ जिनको वेदों में मान्यता नहीं मिली, उन्हें भी 'होलाकाधिकरणन्याय-मूलकसिद्ध' नियम द्वारा मान्यता दी गयी। इस प्रकार इस नियम के अनुसार बहुत से अवैदिक और आर्येतर रीति-नीति और त्योहारों का हिन्दू-करण हो गया।

लगभग तीसरी शती में रचित वात्स्यायन के कामसूत्र में इस उत्सव का नाम 'होलाका' दिया गया है। टीकाकार जयमंगल का कथन है कि उक्त अवसर पर पिचकारी द्वारा किंशुक आदि फूलों के सार से बना हुआ रंग छोड़ने की चाल थी[3]।

कालिदास के रचित ग्रंथों में वसन्तोत्सव का नाम कहीं-कहीं ऋत्युत्सव दिया गया है[4]। इस अवसर पर लोग आम के बौर चढ़ा कर कामदेव का पूजन करते[5] और मिठाई बांटते थे[6]। राज-भवनों में नये नाटक प्रस्तुत किये जाते थे। मालविकाग्निमित्र पहले-पहल इसी अवसर पर खेला गया था[7]।

---

[1] आर्कि० सर्वे रिपोर्ट १९०३-४ पृष्ठ १२४-५ [2] १।३।८।१५; [3] १।४।४२; [4] रघुवंश, ४।४६; शकुन्तला, पृष्ठ १८६; [5] शकुन्तला, पृष्ठ १६१; [6] मालविकाग्निमित्र, पृष्ठ ४८; [7] वहीं, पृष्ठ २;

दशकुमार चरित का कथन है कि ऋतु-राज के आने पर कलिंग राज कर्दन अपनी पुत्री कनकलेखा तथा अन्यान्य महिला और पदस्थ नागरिकों के साथ समुद्र के किनारे एक अंगूर बाग की स्निग्ध छाया में १३ दिन तक वसन्तोत्सव मनाता रहा। इन दिनों अनवरत सामूहिक संगीत, ऐक्यतान वादन और कामोद्दीपक लास्य प्रभृति चलते रहे। अवसर मिलते ही आन्ध्रराज जयसिंह ने अचानक उस मण्डली पर चढ़ाई कर कर्दन को बन्दी कर लिया[1]।

सातवीं शताब्दी में रचित तथाकथित श्री हर्षदेव की रत्नावली नाटिका के प्रथमांक में वत्स-राज उदयन के साथ उनके प्रिय वयस्य वसन्तक की बतकही होती है। उस प्रसंग में जिस रीति से कौसाम्बी नगर में होली का उत्सव मनाया जाता था उसका सजीव वर्णन पाया जाता है। "मधु-मत्त पुरुष और महिलाएँ रंग-भरी पिचकारी ले एक दूसरे पर रंग छोड़ते थे; चर्चरी प्रमुख वाद्य-यन्त्रों की सहायता से सामूहिक गीतें सोच्छ्वास गाये जाते थे; रंग-बिरंगे कपड़े और गहने पहन कर और सिर में अशोक फूल के गजरे लपेट कर जब लड़खड़ाती हुई स्त्रियाँ रंग-भरी पिचकारी ले पुरुषों पर आक्रमण कर देतीं तब वे मारे आनंद के नाचने लगते थे और उनका पहनावा पीले रंग से रंजित हो जाता था। इसके विपरीत जब पुरुष लोग स्त्रियों पर रंग छोड़ते थे, तब उनकी माँग पर की सिंदुर बिंदी गल कर राज-पथ की लालिमा की अभिवृद्धि करती थी। स्वल्प काल में सारी कौसाम्बी का रंग पीला हो गया और राज-प्रासाद का विशाल आँगन कुंकुम के चूर से लाल हो गया। इस प्रकार के क्रीड़ा-कौतुकों में वारांगनाएँ भी निःसंकोच भाग लेती थीं। संध्या को कामदेव की पूजा चढ़ाई गयी और रात को वसन्ताभिनय हुआ जिसमें नृत्य-गीत की अधिकता थी।"

नारद पुराण में फागुन पूर्णिमा को होलिका पूजन की व्यवस्था दी गयी है। तदनुसार रक्षोघ्न मंत्र पाठ कर चारों दिशाओं से जुटायी गयी लकड़ियों की ढेरी में आग लगाने और बाजे-गाजे के साथ उस धधकते हुए अग्नि-कुंड के चारों ओर तीन बार फेरा लगाने का सुझाव दिया गया है। आगे चलकर

---

[1] २।७।२४०;

इस विधि का कारण बताते हुए पुराणकार ने कहा है कि भक्त प्रह्लाद को भयभीत करने के लिये प्रति वर्ष होलिका नाम की राक्षसी को जलाने की प्रथा चल निकली। पुराणकार और भी कहते हैं कि कुछ लोगों की सम्मति है कि इस रीति से सारे वर्ष के लिये काम प्रवृत्ति का दहन कर दिया जाता है[1]। इस प्रकार विशुद्ध एक लौकिक त्यौहार का जिसका संबंध मुख्यतः ऋतु-परिवर्त्तन से है, धार्मिकीकरण हुआ।

भविष्य पुराण का कथन है कि शिशुओं को कष्ट देनेवाली ढौंढा नाम की राक्षसी का बध करने के लिये प्रारंभ में लोगों ने यह उत्सव मनाया था। प्रति वर्ष शीत काल के अन्त तथा ग्रीष्म ऋतु के प्रारंभ में नृत्य-गीत और हँसी-खुशी के साथ लड़के यह उत्सव मनाया करें। साथ ही निर्देश दिया गया है कि जिसके मन में जो भी कुछ आवे वह उसे बक जावे। इसका नारा 'अडाडा' होवे। फाल्गुनी पूर्णिमा को उपर्युक्त रीति से होम करने से सारे दुःख-कष्ट तथा आधि-व्याधि का नाश होता है। इसीलिये इस पर्व का नाम 'होलिका' पड़ा है। आम के बौर खाने की प्रथा इसी उत्सव का अंग है[2]।

ग्यारहवीं शती में अल बेरुनी ने फागुन में दोल-यात्रा के प्रसंग में होली जलाने की प्रथा का उल्लेख किया है[3]।

सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम पाद में मुग़ल सम्राट् अकबर और जहाँ-गीर की पृष्ठपोषकता से और और कई हिन्दू पर्वों के साथ होली का उत्सव भी दरबार में मनाया जाने लगा। अनुमान किया जाता है बहुत दिनों तक यह क्रम जारी रहा। निदान् १७५७ ई० में अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण के कारण दरबार में यह उत्सव नहीं मनाया जा सका।

ऊपर होली के त्योहार का जो धारावाहिक इतिहास दिया गया उससे प्रतिपादित होता है कि प्रारंभ में ऋतु-परिवर्त्तन से संबंधित इस उत्सव का एक भाग विशुद्ध लौकिक रह चुका था, निदान दूसरी शताब्दी के उपरान्त यह

---

[1] ११२४।७६......; [2] ४।१३२; [3] २।१८३-४;

लौकिक उत्सव हिन्दू धर्म में सम्मिलित हो गया। पुनः धार्मिकीकरण होते समय जो कहानियाँ रची गयीं उन में भी एकरूपता नहीं। पुराणकार कभी होलिका को मारते हैं तो कभी ढौंढे को! अस्तु।, भूत-माता महोत्सव और बाल नक्खत्त से गाली-गुफ्त बकने की प्रथा ली गयी तथा विशेष-विशेष स्थान में विशेष-विशेष देवता इसके अधिष्ठाता बनाये गये। कालान्तर में कीच और गोबर का स्थान अबीर और रंगने ले लिया अतएव वे इनके शिष्ट संस्करण माने गये! परन्तु भूलना नहीं चाहिये अनादि काल से होली के उत्सव मनाने का मुख्य अभिप्राय रह चुका है जाड़े के मौसिम की जड़ता भुला देने का और इस मंगल उत्सव का उत्स था ऋतुराज का आविर्भाव।

यूरोप में अग्न्युत्सव

हमारे देश में जिस प्रकार मुख्यतः ऋतु-परिवर्त्तन की घटना मनाने के लिये फागुन के महीने में होली के प्रसंग में अग्न्युत्सव मनाया जाता है, उसी प्रकार यूरोप के महाद्वीप में वसन्त या ग्रीष्म काल में अग्न्युत्सव करके जाड़े की कठोरता भुला देने की रीति है। इसमें भाग लेनेवाले अधिकतर किसान और मजदूर श्रेणी के लोग होते हैं। अतः यह पर्व विशुद्ध लोकोत्सव माना जा सकता है। कहीं-कहीं जाड़े में भी अग्न्युत्सव मनाने की रीति है। खोज करने से पता चला है कि उक्त महाद्वीप में ईसाई मत के प्रचार के पहले भी यह प्रथा प्रचलित थी।

प्राचीन रोम में जून २१ के लगभग अग्नि-जात शासक सर्भियस् टूलियस् की प्रेमिका फरच्यूना देवी के सम्मान में महान् उत्सव मनाने की प्रथा थी। उस दिन दास तथा स्वतंत्र वर्ग के लोग सुरापान प्रभृति कर आनन्द मनाते थे। इस प्रसंग में दौड़ और नावों के खेने की प्रतियोगिता होती थी; फूलों से सजे हुए नावों में प्रेमिक-प्रेमिकाएँ बैठ कर सुरापान करती हुई दीख पड़ती थीं। चारों ओर आनन्द की हिलोर उमड़ पड़ती थी। यह भी एक प्रकार का ग्रीष्म कालीन साटरनेलिया था। नौका-विहार इत्यादि के होने से इस उत्सव का जल के साथ घनिष्ठ संबंध सूचित होता है। ईसाई मत ने जब इस उत्सव को अपनाया तब झट बाप्तिस्मा देने वाले जान के साथ उसका नाता जोड़ दिया, क्योंकि बप्तिस्मा देते समय प्रार्थी को पानी से अभिषिक्त करने की रीति है।

आधुनिक यूरोप में 'मध्यग्रीष्म-कालीन महोत्सव'[1] मुख्यतः प्रेमिक-प्रेमिकाओं से संबद्ध है। इस समय प्रेमिक प्रेमिकाएँ एकत्र होती हैं और हाथ में हाथ बाँध कर या तो धधकती हुई महाग्नि को लाँघती हैं अथवा महाग्नि के आर-पार खड़े होकर एक दूसरे के प्रति फूलों का वर्षण करती हैं। इस प्रकार मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि यूरोप में ग्रीष्म कालीन महोत्सव आग और पानी दोनों से संबधित है। अब उस महाद्वीप के भिन्न-भिन्न प्रान्त में जिस रीति से यह उत्सव मनाया जाता है, संक्षेप में उसका दिग्दर्शन कराया जाता है।

इटली में रोम और नेपल्स के बीच लाटियम् जिले में फरवरी के मध्य भाग में 'रेडिका' नाम का एक महोत्सव मनाया जाता है। तीसरे पहर गाजे-बाजे के साथ नागरिकों की बड़ी भारी भीड़ नगर के उस मुहल्ले में जहाँ अधिकतर सरकारी मकान स्थित हैं, पहुँचती है। बीच के खुले चौक में खूब सजा हुआ एक बड़ा भारी रथ जिसमें चार घोड़े जुते हुए रहते हैं, दिखाई पड़ता है। उस पर ऊँची एक कुर्सी रखी रहती है जिस पर नौ फीट की मिट्टी की बनी हुई एक विशाल काय कार्निवल नाम की मूर्त्ति बैठी रहती है। वह पाँवों में ऊँचे बूट, माथे पर लोहे का बना हुआ विशाल टोप और शरीर पर रंग-बिरंगा कोट पहने हुए रहता है। उसका बाँया हाथ कुर्सी की बाँह पर रखा रहता है और दाहिने हाथ से वह भीड़ का अभिवादन करते हुए चलता है। छिपा हुआ एक मनुष्य उस हाथ को डोरी से खींचता और ढीला करता जाता है। फिर वह भीड़ रथ के चारों ओर धक्कम्-धक्का करती, जोर से चिल्लाती और जोश के साथ नाचती हुई फेरा लगाती है। सभी सदस्यों के हाथ में घीकुवार या अगरू की जड़ होती है। जिनको वह नहीं मिलती, वे एक लंबी छड़ी के माथे पर पातगोभी खोंस कर चलते हैं। धीरे-धीरे वह रथ खींच कर जिलाधीश के मकान के आँगन में लाया जाता है। वहाँ पहुँचते ही भीड़ बिलकुल शान्त हो कर सरकारी कर्मचारियों के आगमन की प्रतीक्षा करती है। उनके दिखाई देते ही भीड़ जय-जयकार करती और ताली पीटती हुई उनका स्वागत करती

---

[1] मिड्-समर डे

है। फिर वे जलूस में सम्मिलित हो जाते हैं। तब कार्निवल का संगीत सोच्छ्वास गाया जाता है और साथ-साथ घीकुवार की जड़ और पातगोभिओं का निक्षेपण शुरू हो जाता है। वे भी बिना पक्षपात किये जिस किसी के सिर पर गिरती जाती हैं। इस पर मार-पीट होने लगती है और जब तक मन नहीं भरता, तब तक लड़ाई जारी रहती है।

इस रीति से प्रस्तावना के समाप्त होने पर रथ आगे बढ़ता है। जलूस के पीछे एक गाड़ी रहती है जिसमें मदिरा से भरे हुए पीपे रहते हैं। उसके साथ कुछ नगर-रक्षक रहते हैं जो प्रार्थियों को मदिरा बाँटते हुए चलते हैं। उस गाड़ी तक पहुँचने के लिये जनता निरन्तर आपस में लड़ती-झगड़ती-चिल्लाती और गाली-गलौज बकती रहती है। इस प्रकार मुख्य-मुख्य सड़कों का चक्कर लगाने के अनन्तर कार्निवल की मूर्त्ति नगर के चौहट्टे को ले जाई जाती है। वहाँ सूखी लकड़ियों के ऊँचे ढेर पर वह रख दी जाती है और जनता की चिल्लाहट और नृत्य-गीत के बीच वह जला दी जाती है। उसी समय जनता उस महाग्नि में घीकुवार की जड़ प्रभृति फेंकती जाती हैं। इस उत्सव का दूसरा नाम 'कर्निवल की समाधि' है।

उसी प्रकार फ्रांस के नारमंडी में उसी दिन खर, फूस और पुआल की बनी हुई एक मूर्त्ति गाजे-बाजे और अल्हड़ तथा फूहड़ों की गाली-गलौज के साथ नगर के चारों ओर घुमायी जाती है। बीच-बीच में तथाकथित सदाचारी एक भाषण करने वाला उस गूँगे मूर्त्ति के विरुद्ध नाना प्रकार की बदचलनी के आरोप प्रस्तुत करता जाता है। निदान वह मूर्त्ति खर और फूस के एक ढेर पर रख कर जला दी जाती है। जलती हुई महाग्नि के चारों ओर छोटे-छोटे लड़के गाते हुए उछलते-कूदते रहते हैं। उस प्रान्त में इस कृत्य का नाम 'ओव् मंगल की समाधि'[1] पड़ा है।

जर्मनी के ओल्डेन्बर्ग में ईस्टर के समय दो झीने पेड़ों को काट कर अगल-बगल गाड़ देने की प्रथा थी। फिर उनके आस-पास अलकतरे के २४

---

[1] बेरिपल अव् ओव् ब्युज़डे

पीपे रख दिये जाते थे। फिर तिनके, घास, फूस और सूखी लकड़ियों से वे तोप दिये जाते थे। निदान ईस्टर शनिवार संध्या को लड़के उसमें आग लगा देते थे। इस कृत्य के समाप्त होते ही छोकरे एक दूसरे के मुँह पर कारिख पोतते तथा बड़ों के पहनावे पर धब्बे लगा कर उन्हें बिगाड़ने की चेष्टा करते थे।

स्वीडेन, नारवे और डेनमार्क में जून में समारोह के साथ सन्त जान की पवित्र तिथि मनायी जाती है। स्वीडेन के किसी किसी भाग में अभी तक उस दिन की पूर्व-रात सबसे बढ़ कर खुशी की रात मानी जाती है। निरन्तर बन्दूक और तमंचे की आवाज सुनाई देती है, आतशबाजी छोड़ी जाती है और संध्या होते ही पहाड़ और टीलों पर महाग्नि जलायी जाती हैं जिनके प्रकाश से सारा भू-भाग आलोकित हो जाता है। इन महाग्नियों के चारों ओर लोग कूदते-फाँदते और नाचते फिरते हैं। इसके अतिरिक्त लोगों का विश्वास है कि उस दिन किसी-किसी चश्में में आरोग्यकर चमत्कार समाते हैं। इसलिये स्वस्थ होने के अभिप्राय से वहाँ रोगियों की भीड़ जम जाती है। इस प्रकार स्वीडेन आदि देशों में सन्त जान की तिथि आग और पानी दोनो से संबंधित है।

सारे बोहेमिया में अभी तक ग्रीष्म समारोह के पूर्व दिन तीसरे पहर लड़के और नवयुवक लोग जलूस बना ठेला ले कर घर-घर से लकड़ी एकत्र करते हैं; जो देने को अस्वीकार करते हैं वे उन्हें अभिशाप देते हैं। कभी-कभी वे ऊँचे और सीधे देवदार के एक पेड़ को काटकर उसे किसी टीले पर गाड़ देते हैं। नवयुवती और लड़कियाँ उसे फल-फूल, बेल-बूटी, लाल फीते इत्यादि से खूब सजाते हैं। तब नवयुवक और लड़के उसकी चारों बगल सूखी पत्तियाँ, झाड़-जंगल, लकड़ी प्रभृति का ढेर रख देते हैं। रात होने पर उसमें आग लगा दी जाती है। आग के थाम लेने पर नवयुवक लोग उस देवदार पर चढ़ जाते हैं और उस पर से साज-सजावट की फूल-पत्तियां के गुच्छे, फीते आदि उतार लाते हैं। इसके अनन्तर नवयुवक और नवयुवतियाँ महाग्नि की दोनो बगल कतार लगा कर खड़ी हो जाती हैं और मालाओं के भीतर से एक दूसरे के प्रति निरीक्षण करते हैं यह मालूम करने के लिये कि वे उसी वर्ष के भीतर विवाहित होंगे या नहीं तथा वे एक दूसरे के प्रति अनुरक्त होंगे कि नहीं। फिर

वे आग की लौ के भीतर से एक दूसरे के प्रति मालाएँ फेंकती हैं। यदि किसी नवयुवक के हाथ से माला छूट जाती तो उसकी बड़ी निन्दा होती है। महाग्नि की आँच धीमी पड़ जाने से एक-एक जोड़ हाथ में हाथ बाँध कर तीन बार आग को लाँघते हैं। लोगों का विश्वास है कि ऐसा करने से उस वर्ष में उन्हें ज्वर नहीं आवेगा तथा पटसन की भी बढ़ती होगी। जिस नवयुवती को नौ महाग्नि के दर्शन मिल जाते हैं, उसका विवाह उसी वर्ष के भीतर होने की पूरी संभावना है। भरपूर फसल प्राप्त करने की आशा से किसान लोग अपने खेतों में महाग्नि की जली हुई लकड़ियाँ धरती में गाड़ देते हैं और उसकी राख छिटका देते हैं।

रूस के इस्थोनिया प्रान्त के ओज़ेल द्वीप में एक पेड़ के तने के चारों ओर लकड़ी प्रभृति का ढेर लगाया जाता है और पेड़ की चोटी पर झंडा लहरा दिया जाता है। एक डंडे के सहारे जो भी मनुष्य उसे गिरा दे सकता है, उसका भाग्य शीघ्र खुलने वाला है—ऐसा लोगों का विश्वास है। प्राचीन काल में रात भर यह उत्सव जारी रहता था और अन्तिम दशा में लोग व्यभिचार के स्रोत में लोट-पोट करते थे।

नारमंडी की जुमिजीस बस्ती में उन्नीसवीं शती के मध्य भाग तक ग्रीष्म कालीन उत्सव बड़ी विचित्र रीति से मनाया जाता था। सन्त जान तिथि के पूर्व दिन 'ग्रीन उल्फ़ की बिरादरी' के सदस्य एक नये अध्यक्ष का चुनाव करते थे। निर्वाचन के बाद नया अध्यक्ष कुछ विचित्र ढंग के पहनावे पहनता था। वह हरे रंग का चोगा और सिर पर हरे रंग का एक नुकीला टोप पहन लेता था। इस प्रकार की साज-सजावट कर नया ग्रीन उल्फ़ और और सदस्यों के साथ क्रूश और मंत्र-पूत झंडे के पीछे पीछे सन्त जान रचित भजन गाते हुए गिर्जे को जाता था। वहाँ का कृत्यादि समाप्त होने पर सदस्य लोग ग्रीन उल्फ़ के घर लौट आते थे। भोजनादि से निपटने पर पत्र-पुष्पों से सुसज्जित युवक-युवतियों की घंटा-ध्वनि के साथ महाग्नि प्रज्वलित की जाती थी। जब आग जोरों बरने लगती थी, तब नव-निर्वाचित ग्रीन उल्फ़ और उसकी बिरादरी के लोग आँखें ढांप और एक दूसरे के हाथ में हाथ बाँध कर अगले साल के भावी अध्यक्ष के पीछे-पीछे महाग्नि के चारों ओर दौड़ते फिरते थे। वह भागते

हुए उनको एक छोटी छड़ी से पीटता जाता था। निदान जब वह पकड़ लिया जाता था, तब वे उसे भभकती हुई आग में फेंकने का हीला-हवाला करते थे। इसके अनन्तर वे फिर ग्रीन उल्फ के घर लौटते और भोजन करते थे। इस प्रकार रात १२ बजे तक जितने कृत्य होते थे उनका संबंध थोड़ा बहुत धर्म के साथ होता था। किन्तु १२ बजने के साथ-साथ यकायक दृश्य पलट जाता था। संयम और नियंत्रण के स्थान में लघुता और चपलता की लहर दौड़ने लगती, भजन की जगह कलवरिया के गीत सुनाई पड़ते थे तथा पियक्कड़ों की चिल्लाहट से नैश आकाश गूंजने लगता था। दूसरे दिन भी इसी प्रकार आमोद-प्रमोद करते हुए गँवाने की प्रथा थी।

आशय यह है कि हमारे देश में होली के त्योहार से संबंधित जो-जो विलक्षणताएँ हैं लगभग सभी कुछ प्रथाएँ यूरोप के भिन्न-भिन्न भागों में प्रचलित हैं। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि मानव चरित्र मूलतः एक है।

अब इस उत्सव के मनाने के उद्देश्य के बारे में मतभेद है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि सूर्य देवता उष्णता और प्रकाश, दोनों के स्रोत हैं। जीव मात्र के स्वास्थ्य तथा पेड़-पौधों के विकस के लिये इन दोनों की आवश्यकता है। समय-समय पर महाग्नि प्रज्वलित करके मानव उसीका अनुकरण करते हैं। अतः यह प्रथा एक प्रकार का सौर जादू है। उधर कुछ लोग अग्नि की पावनता अथवा अनिष्टकारी तत्त्वों का, चाहे वे भूत-प्रेत हों और चाहे वे रोग के बीजाणु हों, नाशकर वायु मंडल को विशुद्ध करने की शक्ति पर बल देते हैं। अतः इसे परिशोधन का सिद्धान्त कहा जा सकता है[1]।

भारत के लिये सौर जादू का सिद्धान्त कदाचित् लागू किया जा सकता है, क्योंकि यहाँ उष्णता तथा प्रकाश की कमी नहीं। भले ही यूरोप के लिये यह सिद्धान्त लागू किया जा सके; क्योंकि वह शीत-प्रधान देश है। ऐसी दशा में परिशोधन का सिद्धान्त ही भारत के लिये प्रयोज्य है। सर्वोपरि पुराणों में

[1] दि गोल्डेन बाऊ (संक्षिप्त संस्करण), पृष्ठ ६०१......

बच्चों को कष्ट देने वाली राक्षसियों का विनाश कर वायुमंडल को परिशोधित करना होलिका दहन का मुख्य उद्देश्य माना गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय जो छः उत्सवों का वर्णन हुआ है, उन में से *प्रारंभ के तीन, अर्थात् इन्द्र-मह, मदन-महोत्सव और भूतमाता महोत्सव* का मनाना किसी अज्ञात कारण वश ठप हो गया है। किन्तु शेष तीन, अर्थात् नाग पंचमी, दीवाली और होली आज तक लोग सोत्साह मनाते हैं। ऊपर के वर्णन से प्रतीत होगा लोक-प्रिय इन तीन पर्वों का आधार लौकिक रह चुका था, जिन पर कालान्तर में गाढ़े प्रकार से धार्मिक रंग चढ़ाया गया। परन्तु लौकिक होने पर भी इनके महत्त्व में कमी नहीं हुई। तीर्थ-यात्रा के साथ-साथ इन त्योहारों के मनाने से प्रत्येक हिन्दू—चाहे वह धुर दक्षिण का निवासी क्यों न हो, या कश्मीर का रहने वाला ही क्यों न हो—एक ही निश्चित तिथि को एकही स्थान में एकत्र हो, एक ही प्रकार के विधि-विधानों का पालन करते हुए इन त्योहारों को मना कर, वह अपने अन्तःस्तल में यह अनुभव करता है कि हमारी संस्कृति एक-सी है, उनकी धार्मिक रीति-नीति एक प्रकार की है, उनका स्वार्थ एक-सा है तथा उनका लक्ष्य भी एक ही है। इस प्रकार कालान्तर में भारत के निवासियों के हृदय में जातीयता का भाव भरने के सर्वोत्तम साधन बन गये, ये सब उत्सव!

धार्मिक लोकोत्सव

—तीन—

हमारे मानसिक विकार या मनोवृत्तियाँ चिर काल तक एक-सी बनी नहीं रहतीं। समुद्र को लहर के समान अथवा घड़ी के लटकन के झूप जैसे हमारे मन में भाव रुक-रुक कर आते हैं, फिर थोड़ी देर में हिलोर जैसी वे विस्मृति के अथाह पानी में विलीन हो जाते हैं। नाड़ी की निरन्तर गति या छाती की धड़कन जैसी हमारी मानसिक क्रियाएँ भी छन्दोबद्ध हैं। बाहरी तत्त्वों के उकसाने से वे जोर तो करती हैं, फिर थोड़ी देर में फीकी पड़ जाती हैं। भर पेट भोजन कर लेने के बाद जैसे खाने से अरुचि का होना स्वाभाविक है, रात भर सोने के बाद जैसे जागते रहना स्वाभाविक है, कठिन परिश्रम के बाद जैसे विराम का लेना आवश्यक है, उसी प्रकार भावावेश और उत्तेजना के बाद ही विरक्ति या उदासीनता का आना स्वाभाविक है—यद्यपि दिन और रात के आवर्त्तन या ऋतु परिवर्त्तन के ऐसा इसके लिये कोई नियमानुकूल समय नियत नहीं है।

अन्यान्य मनोवृत्तियों के समान धार्मिक प्रेरणा भी छन्दोबद्ध है। प्रारंभ में इसकी उत्तेजना जितनी तीखी होती है, उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होती है। अनुभव कहता है कि पहुँचे हुए व्यक्ति भी बहुत समय तक उस ऊँचाई पर टिक नहीं सकते, तथा झूले की भाँति उनका मन भावुकता और क्रियाशीलता अथवा निश्चेष्टता के बीच झूमता ही रहता है।

संसार के सभी प्राचीन धर्ममत मानव-हृदय की इस विलक्षणता से पूर्णतया परिचित थे। अतः इस बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपने-अपने अनुयायियों के धार्मिक जीवन को संघटित करने में कुशलता दिखायी है। मानव जीवन की छन्दोबद्धता बहुधा विश्व-संसार की छन्दोबद्धता से मिलती-जुलती

है; इसीलिये चीनी दार्शनिक ली-कि ने सुझाव दिया है ध्यान-धारणा के लिये मनुष्य को छः महीने की क्रियाशीलता के बाद कुछ दिनों के लिये वैराग्य लें लेना चाहिये[1]। महावीर स्वामी और बुद्ध भगवान् प्रतिवर्ष तीन महीने 'वस्सावास' के बहाने प्रचार का काम टाल कर ध्यान और चिन्तन करने में व्यतीत करते थे। उसी प्रकार मानव-हृदय की छन्दोबद्धता के साथ ताल-मेल रखने के लिये ईसाइयों के संवत्सर में कुछ भावुकता-पूर्ण ऋतु और पवित्र तिथियों का समावेश किया गया है, जिसे ईसा मसीह के अनुयायी स्मरण और मनन करने में बीताते हैं। संसार की बिगड़ी हुई दशा को सुधारने के लिये गीता का 'संभवामि युगे युगे' जैसा आश्वासन की वाणी का द्योतक अवतारवाद, चरम दशा में परिपूर्णता प्राप्त करने के उद्देश्य से बौद्धों का बोधिसत्ववाद और धर्म प्रचार के लिये जैनियों का तीर्थंकरवाद के सिद्धान्तों में भी यही रहस्य छिपा हुआ है—जब नये अवतार, नूतन बोधिसत्व और नवीन तीर्थंकर अपने-अपने मत की मुरझाती हुई शाखा-प्रशाखाओं को फिर से पल्लवित और कुसुमित करते, तथा उन के अनुयायियों के हृदय में नये सिरे से धार्मिक प्रेरणा भर कर उसे फिर से सशक्त बनाते थे। ईसाई लोग जो रविवार मनाते, मुस्लिम जुमे का पालन करते तथा यहूदी जो 'साबाथ' या पर्व दिन मनाते हैं, उसका उद्देश्य भी धार्मिक प्रेरणा को बढ़ावा देना ही है।

इस प्रकार प्रत्येक धर्म वैयक्तिक रूप से अपने अनुयायियों के हृदय में समय-समय पर धार्मिकता का भाव उत्पन्न करने का प्रबंध करने के अतिरिक्त किसी-किसी ने बीच-बीच में जन-आन्दोलन खड़ाकर सामूहिक रूप से जनता के हृदय में धर्म की लहर दौड़ाने का प्रयत्न भी किया है। मध्यकाल में बंगाल प्रान्त में आन्तरिक भावुकता के सहारे चैतन्य महाप्रभु ने ऐसा ही किया था।

इस प्रकार जीवन की छन्दोबद्धता जैसी किसी धर्म को चालू रखने, उसमें नयी जीवन-शक्ति भरने के लिये समय-समय पर सूई डालने की आवश्यकता होती है। धार्मिक आन्दोलन इसी सूई का काम करता आया है। अतः जब तक

---

[1] एस्० बी० ई०, २७।५;

मानव के शरीर के साथ आत्मा का संयोग रहेगा, तब तक उसके पालन-पोषण के लिये धार्मिक आन्दोलन की आवश्यकता होती रहेगी।

ऐसी दशा में जब हिन्दू धर्म के सिद्धान्त के अनुसार हम करोड़ों देव-देवियों को मानते और पूजते हैं, तब भिन्न-भिन्न देवताओं के सम्मान में साल में दो-एक दिन का उत्सव मनाना कोई आश्चर्य की बात नहीं! पुनश्च यदि जनता को इस उपाय द्वारा प्रति वर्ष नियत समय पर स्मरण न दिलाया जाय, तो संभव है कि वे ऐसे देवताओं को बिलकुल भूल जायँ। देव-देवियों की अधिकता होने के कारण हिन्दू धर्म में उत्सव और मेलों की भरमार है। इनमें से कुछ तो स्थानीय हैं, शेष देश-व्यापी या जातीय। प्रस्तुत अध्याय में ऐसे ही कुछ उत्सव और मेलों का विवरण दिया जा रहा है।

रथ-यात्रा का उत्सव

ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में रथ-यात्रा का उत्सव चालू करने का श्रेय संभवतः महायान मत के बौद्धों को है। इस प्रकार लौकिक उत्सवों का समावेश कर नवीन बौद्ध मत के प्रवर्त्तकों ने महायान को लोक-प्रिय बनाने की चेष्टा की। सभी देश की जनता आडम्बर-प्रिय होती है। वह कदाचित् अपनी बुद्धि से काम लेती है। अतः जनता का मन हरने के लिये अशोक के शासन काल से ही बौद्ध मत के साथ नाना प्रकार के ढकोसले जोड़े जाने लगे। इस प्रवृत्ति का चरम बिन्दु कनिष्क के राज्य काल में पहुँच गया था। उस समय तक बौद्ध मत में आडम्बर की भरमार हो गयी थी। जिन-जिन ढकोसलों द्वारा जनता की आँखें चौंधिया दी जाती थीं, उनमें से रथ-यात्रा का उत्सव भी एक था। सौभाग्यवश ५वीं शती के प्रारंभ में फाहियेन नाम का एक चीनी यात्री यहाँ आया था। मध्य एशिया के खोतन और राजधानी पाटलिपुत्र में यह उत्सव जिस ढंग से उन दिनों मनाया जाता था, उसका आँखों देखा- हाल उसने अपने भ्रमण-वृत्तान्त में लिख छोड़ा है। रथ-यात्रा के उत्सव का निम्नलिखित विवरण मुख्यतः उसी के लेख पर आधारित है।

खोतन में

फा-हियेन लिखता है कि रथ-यात्रा का उत्सव देखने के लिये वह खोतन के गोमती संघाराम में तीन महीने के लिये रुक गया। उसके कुछ संगी-साथी आगे बढ़ गये। चौथे महीने (आषाढ़) के पहले दिन से नगर की सड़क और गलियों की सफ़ाई होने लगी, पानी छिड़का गया तथा गली-कूँचों तक की भी अच्छी सजावट की गयी। नगर के मुख्य फाटक के बाहर एक विशाल तंबू खड़ा किया गया। राज-कर्मचारियों ने उसकी बड़ी सजावट की। राजा और रानियाँ वहाँ ठहरती थीं।

उन दिनों खोतन में चार बड़े बिहारों के अतिरिक्त अनगिनत छोटे-मोटे बिहार थे। प्रत्येक संघाराम की ओर से नियत दिन पर अलग-अलग रथ निकाला जाता था। सर्व प्रधान बिहार होने के कारण गोमती संघाराम का रथ सबसे पहले निकलता था। इस प्रकार चौदह दिन तक यह उत्सव चालू रहता था। नगर से ३।४ ली (एक मील) की दूरी पर चार पहिये का एक रथ बनाया जाता था। वह तीस हाथ ऊँचा होता था, तथा चलता-फिरता प्रासाद जैसा जान पड़ता था। उसकी सज-धज भी अनोखी होती थी। मणि और रत्न जड़े हुए तोरण, रेशम की ध्वजा तथा चाँदनी से वह सजाया जाता था। पहले बुद्ध भगवान् की सोने की बनी हुई मूर्त्ति रथ पर पधरायी जाती थी, उसकी दोनों बगल में दो बोधि-सत्त्व विराजते थे। इनके अतिरिक्त सोने, चाँदी और स्फटिक की बनी हुई बहुत-सी मूर्त्तियाँ रखी जाती थीं। जब रथ नगर से सौ पग की दूरी पर पहुँचता था, तब राजा अपना मुकुट उतार, नये वस्त्र पहन और हाथ में फूल-माला और धूप ले कर नंगे पाँव रथ की अगवानी करने को आगे बढ़ता था। उसकी दोनों बगल में उच्च पदस्थ राजकर्मचारी कतार लगा कर चलते रहते थे। रथ के सामने पहुँचते ही राजा साष्टांग दंडवत् कर फूल-माला चढ़ाता और धूप द्वारा आरती करता था।

रथ के नगर में प्रविष्ट होने पर राज-भवन के फाटक के छज्जे पर से महारानी अपनी सहेलियों के साथ फूल बरसाती थीं। सड़क पर फूलों के ढेर

जम जाते थे। इस प्रकार समारोह के साथ रथ यात्रा का उत्सव मनाने के बाद राजा और रानी राजभवन को चल देती थीं।

पाटलिपुत्र में

फिर फा-हियेन के पाटलिपुत्र पहुँचने पर वहाँ भी उसने रथयात्रा के उत्सव में भाग लिया था। यह उत्सव प्रतिवर्ष दूसरे महीने के आठवें दिन मनाया जाता था। रथ चार पहिये का होता था। रथ का ऊपरी भाग ऊँचाई में २० हाथ स्तूप के आकार का बनाया जाता था। ऊपर से सफेद भड़कीले ऊनी कपड़े से वह मढ़ा जाता था; नाना प्रकार के रंगों से रथ रंगा जाता था; रेशम की बनी हुई ध्वजाएँ फहरायी जाती थीं और चाँदनी लगायी जाती थी। कुल मूर्त्तियाँ सोने, चाँदी या स्फटिक की होती थीं। बीच में बुद्ध भगवान् की मूर्त्ति रखी जाती थी और बगल में बोधिसत्त्व पधराये जाते थे। केवल पाटलिपुत्र में इस प्रकार के २० रथ निकलते थे। एक से एक मनोरम और भड़कीला; सभी की साज-सजावट भी अनोखी होती थी। नियत दिन पर गाने-बजाने वालों को साथ लेकर आस-पास के भिक्खु और उपासक एकत्र होते थे। फिर फूल और धूप से भगवान् की अर्चा की जाती थी। तब ब्राह्मण जाति के प्रमुख नागरिक वहाँ पहुँचते और नगर में पधारने के लिये रथ को आमंत्रित करते थे। इसके बाद क्रम से एक-एक रथ नगर में प्रवेश करता था। इसमें दो रात बीत जाती थीं। रात भर दिया जलता और गाना-बजाना होता था। प्रत्येक बस्ती में इस ढंग से रथ-यात्रा का उत्सव मनाया जाता था।

जगन्नाथ जी की रथ-यात्रा

चीनी यात्री फा-हियेन ने खोतन और पाटलिपुत्र में जिस ढंग से पाँचवीं शती के प्रारंभ में बुद्ध भगवान् की सेवा में रथ-यात्रा का उत्सव मनाते देखा था, उसका वर्णन हो चुका है। किन्तु रथ-यात्रा पर बौद्धों का एकाधिकार रहा—ऐसा नहीं समझना चाहिये। प्राचीन काल में बौद्धों के साथ-साथ सनातन धर्म के अनुयायी तथा जैनी भी अपने अपने देवताओं की सेवा में इस उत्सव लगन से मनाते थे।

हिन्दुओं का विश्वास है कि कंस महाराज के बुलावा देने पर जब श्रीकृष्ण भगवान् और बलराम जी अक्रूर के साथ रथ पर सवार हो, वृन्दावन को सूना छोड़ कर मथुरापुरी को चले गये, तभी से उस घटना की स्मृति में रथ-यात्रा का उत्सव मनाने की रीति चल पड़ी। कालान्तर में और और देवताओं की सेवा में रथ-यात्रा का उत्सव मनाया जाने लगा। इस प्रकार पुराणों में जगन्नाथ जी के अतिरिक्त शिव जी, सूर्य भगवान्, ब्रह्मा प्रभृति बहुत से देवताओं की सेवा में समारोह के साथ रथ-यात्रा का उत्सव मनाने का सुझाव दिया गया है, और तदनुसार जगह-जगह पर यह उत्सव आज तक मनाया भी जाता है; किन्तु पीताम्बर कहने से जैसे विष्णु भगवान् का ही बोध होता है, उसी प्रकार रथ-यात्रा कहने से जगन्नाथ जी की रथ-यात्रा का बोध होता है। इन दिनों देश के कोने-कोने से लाखों यात्री रथ पर विराजती हुई भगवान् की चार मूर्त्तियाँ देखकर अपने लिये स्वर्ग को जाने का पथ प्रशस्त करते हैं। भीड़ इतनी अधिक होती है कि प्रति वर्ष कई लोग दब कर मर जाते हैं।

जगन्नाथ जी की रथ-यात्रा का विशद् वर्णन सातवीं शती के लगभग रचित स्कंदपुराण में पाया जाता है। संक्षेप में अब उसी का विवरण नीचे दिया जा रहा है। अधिक विश्वसनीय होने पर भी ब्रह्म पुराण का वर्णन अधूरा है।

सत्ययुग में अवन्ती (मालवा) देश में इन्द्रद्युम्न नाम के एक परम वैष्णव राजा होगये। एक दिन राजसभा में तीर्थाटन करने वाले एक ब्राह्मण से उन्होंने उत्कल या उड्देश में स्थित पुरुषोत्तम क्षेत्र के माहात्म्य की कथा सुनी। इसी प्रसंग में राजा से कहा गया कि वहाँ विष्णु भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन मिलता है। तभी से राजा को वहाँ जाने की धुन सवार हो गयी। प्रारंभ में उन्होंने अपने पुरोहित के भाई को अपनी ओर से देख-भाल करने के लिये भेजा, किन्तु उसे दर्शन देकर विष्णु भगवान् वहाँ से अन्तर्हित हो गये। लौटने पर ब्राह्मण ने वहाँ जो कुछ भी देखा या सुना था, राजा से निवेदन किया। इस पर राजा का कुतूहल और भी बढ़ गया। तब नारद आदि प्रमुख की एक बड़ी भारी भीड़ अपने साथ लेकर राजा उत्कल पहुँचे। वहाँ के शासक ने समारोह के साथ उनकी अगवानी की।

वहाँ पहुँचने पर शिव जी के कहने से राजा ने धूम-धाम के साथ एक हजार अश्वमेध यज्ञ किये। जिस दिन यज्ञ की समाप्ति हुई, उसी दिन राजा को पता चला कि समुद्र के प्रवाह में बहता हुआ चार डाल वाला एक समूचा पेड़ स्नान के घाट में आ लगा है। राजा के कहने से वह पेड़ पानी से बाहर निकाल लिया गया। तब एक बूढ़े बढ़ई ने १५ दिन तक घटना-गृह में बन्द रह कर चक्र समेत लकड़ी की चार मूर्त्तियाँ बना दीं। इस बीच निरन्तर बाजे बजते रहे और किसी के लिये घटना-गृह में झाँकने की आज्ञा नहीं थी। भगवान् की दारुमयी मूर्त्तियाँ बन जाने पर समारोह के साथ राजा ने एक भव्य मंदिर में उनको पधराया। मंदिर में मूर्त्तियों के स्थापित हो जाने पर ब्रह्मा की सलाह से ठाकुर जी के सम्मान में प्रतिवर्ष जो यात्रा, महोत्सव प्रभृति मनाना है, उसका भी क्रम निश्चित कर दिया गया। इनमें स्नान-यात्रा और रथ-यात्रा बड़ी महत्त्व-पूर्ण मानी गयी।

सुनते हैं प्रारंभ में विश्वकर्मा ने तीन रथों का निर्माण किया था। लकड़ी और बाँस के बने हुए रथ जब साज-सजावट के बाद खड़े कर दिये गये, तब वे स्वर्गीय विमानों को भी नीचा दिखाने लगे। भीतों पर सुन्दर-सुन्दर चित्र अंकित थे तथा खंभों की शोभा बढ़ाने के लिये उनकी बगलों में पुतलियाँ रख दी गयी थीं। इस प्रकार की सज-धज करने के बाद जगन्नाथ जी के रथ पर गरुड़-ध्वज फहराया गया, बलराम जी के रथ पर जो झंडा लहराया गया, उस पर हल का चित्र अंकित था तथा सुभद्रा के रथ पर जो पताका लगाई गई थी उस पर कमल का फूल बना हुआ था। रथ खींचने के लिये घोड़े और बैल तैयार रखे गये; परन्तु इस विषय में विष्णु-भक्तों को प्राथमिकता दी गयी।

रथों के बन जाने पर शास्त्रों में लिखित विधि-विधान के अनुसार नारद ऋषि ने उनका प्रतिष्ठापन किया। इनमें मंगलाचरण के पश्चात् पूर्ण-कुंभ में रखे हुए पानी से रथों का शोधन, हवन, ब्रह्म-घोष और ब्रह्म-भोज प्रधान थे।

इस प्रकार जब नियमानुसार रथों का प्रतिष्ठापन हो गया, तब वेद-पाठ, जय-जयकार के नारे लगाते हुए गाजे-बाजे के साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य

जाति के सदस्यों ने उन मूर्तियों को रथ पर पधराया। फिर पूजा-पाठ करने के उपरान्त वे रथ खींच कर 'गुंडिचा' मण्डप तक पहुँचाये गये। वहीं पर राजा इन्द्रद्युम्न ने जो सहस्र अश्वमेध यज्ञ किया था, उसकी महा-वेदी बनायी गयी थी। आठ दिन तक वहाँ ठहरने के पश्चात् नवें दिन उन मूर्त्तियों को लाकर एक पोखरे के किनारे सात दिन तक रखा गया। कहा जाता है कि इन्द्रद्युम्न के अश्वमेध यज्ञों के प्रसंग में जो करोड़ों गायें आयी थीं, उनके खुरों की रगड़ से बहुत सा भू-भाग दब गया था। उसी स्थान पर यह इन्द्रद्युम्न नाम का तालाब बन गया। अतः यह तालाब कुल तीर्थों का सार माना गया है। अंत में मूर्त्तियाँ रथ पर से हटा कर मंदिर में रखवा दी गयीं[1]।

रथों के खींचते समय एक अद्भुत् रीति प्रचलित है, जिसका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है। इस समय उड़िये सृष्टि-तत्त्व संबंधी विचित्र-विचित्र गालियाँ बकते हैं। संभवतः मध्यकाल में उड़ीसा पर तांत्रिक बौद्ध मत वालों का जो प्रभाव रह चुका था यह प्रथा उसीका स्मृति चिह्न है। सभी को मालूम होगा कि जगन्नाथ जी की रथ-यात्रा प्रति वर्ष आषाढ़ की शुक्ला द्वितीया तिथि को मनायी जाती है।

स्नान-यात्रा

लोगों का ऐसा विश्वास है कि इन्द्रद्युम्न ने जो अश्वमेध यज्ञ किया था उसके प्रभाव से जगन्नाथ जी का आविर्भाव जेठ की पूर्णिमा तिथि को हुआ। अतः प्रति वर्ष उस दिन समारोह के साथ भगवान् का शुभ जन्मोत्सव मनाया जाता है। इस उत्सव के उपलक्ष्य में भी हजारों हिन्दू एकत्र होते हैं। इसी दिन जगन्नाथ प्रभृति की मूर्त्तियों को ऊँचे मंच पर रखकर एक विशेष कूएँ के पानी से उनको नहलाया जाता है[2]। उपर्युक्त दो महोत्सवों के अतिरिक्त जगन्नाथजी की सेवा में वैशाख में अक्षय तृतीया को चन्दन यात्रा, अगहन में पुष्या

---

[1] स्कंद पुराण, पुरुषोत्तमक्षेत्र माहात्म्य, ६, ब्रह्म पुराण, ४२-५१;

[2] वही, २६।१६-२६; वही, ६५।२;

स्नान और प्रावरण तथा फागुन में दोल यात्रा नाम के उत्सव धूम-धाम के साथ मनाये जाते हैं[१]।

अभी तक प्रति बारहवें वर्ष जगन्नाथ प्रमुख देवताओं का 'नवकलेवर' या काया पलट किया जाता है। इस अवसर पर नीम के तीन या चार कुन्दे समुद्र में तैरते हुए किनारे आकर लगते हैं और उसी लकड़ी से बढ़ई तीन मूर्त्तियाँ बनाते हैं। प्रति वर्ष स्नान-यात्रा के बाद कहा जाता है कि अधिक नहाने के कारण ठाकुर जी को ज्वर आया है। अतः १२ दिन तक उनके दर्शन नहीं मिलते। वास्तव में इन दिनों पानी से धुल जाने के कारण मूर्त्तियों की फिर से रंगाई और साज-सजावट की जाती है। द्वितीया को रथ-यात्रा होने के बाद तीन दिन तक ठाकुर जी रथ पर विराजते हैं। चौथे दिन रथों को खींचकर गुण्डिचा भवन पहुँचाया जाता है। नवें दिन जब मूर्त्तियाँ वहाँ से लौटा लायी जाती हैं, तब वह 'उलटा रथ' कहा जाता है। आजकल इसी क्रम से जगन्नाथ जी की रथ-यात्रा का उत्सव मनाया जाता है।

क्या जगन्नाथ प्रभृति बौद्ध त्रिरत्न हैं ?

प्रस्तुत विषय समाप्त करने के पहले केवल एक ही विषय पर विचार करने की आवश्यकता है। वह यह कि कुछ लोगों की सम्मति है कि आजकल जिन देवताओं का नाम जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा पड़ा है, वे प्रारंभिक दशा में बौद्ध त्रि-रत्न थे। उनका कहना है कि बुद्ध भगवान् को जगन्नाथ, धर्म को बलराम या बलभद्र तथा संघ को सुभद्रा देवी में रूपान्तरित कर दिया गया है। इस प्रसंग में वे गया के महाबोधि विहार में आविष्कृत मूर्त्तियों का उदाहरण देते हैं। महाबोधि की मूर्त्तियों के बीच में तो बुद्ध भगवान् हैं तथा उनके दाहिने पुरुष के वेश में धर्म और स्त्री के रूप में संघ विराजती हैं[२]। अपना मत

---

[१] स्कंद पुराण, पुरुषोत्तमक्षेत्र माहात्म्य, २९।४६-४८; ब्रह्मपुराण ६३।१८; २१;

[२] कनिंगहम् का महाबोधि, पृष्ठ ५५, प्लेट २६;

पुष्ट करने के लिये वे और भी कहते हैं कि प्रावरण नाम का उत्सव, जिसे पहले प्रति वर्ष बौद्ध भिक्खु और भिक्खुनियाँ बस्सा-वास कर लेने के बाद बड़े समारोह के साथ मनाती थीं, वह आज तक केवल श्री जगन्नाथ जी के मंदिर ही में मनाया जाता है। पुनश्च जगन्नाथ जी के मंदिर की भीत के बाहर के पत्थर पर के जो खोदाई के काम हैं उन पर साफ-साफ उत्तर काल के विकृत बौद्ध मत की छाप है। यह विषय ऐसा जटिल है कि इसका विस्तृत विवेचन करना आवश्यक है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पुराणकार इस विषय पर हाँ-ना बिलकुल नहीं करते। उन्होंने जगन्नाथ प्रमुख देवताओं का भावुकतापूर्ण जो विवरण दिया है, वह अनवद्य है। किन्तु समालोचक इस बात पर ध्यान नहीं देते कि हिन्दू बौद्ध त्रिरत्न के प्रति श्रद्धा नहीं निवेदन करते, प्रत्युत वे 'एकमेवाद्वितीयम्' विष्णु भगवान् की चार मूर्त्तियों—जगन्नाथ, बलराम, सुभद्रा और सुदर्शन चक्र—की अर्चा करते हैं[1]। संभव है प्रावरण उत्सव बौद्धों की देखा-देखी चालू किया गया हो, जब बौद्ध भिक्खुओं की भाँति जगन्नाथ प्रमुख मूर्त्तियों के पहनावे बदल दिये जाते हैं। अन्त में पत्थर पर की खोदाई के काम के बारे में जो कुछ कहा जाता है, उसके विषय में यही कहा जा सकता है कि युग-युग में मनुष्यों की रुचि, भाव-विचार प्रभृति में परिवर्त्तन होता आया है। बहुत से ऐसे विषय हैं, जिन्हें हमारे पूर्वज आपत्तिजनक नहीं मानते; किन्तु आज हम लोग उन्हें बुरा मानने लगे हैं। उदाहरण के लिये सती-प्रथा, बाल-विवाह, नियोग की विधि, यक्ष आदि प्रमुख लौकिक देवताओं का पूजन जैसे रीति-नीतियों का उल्लेख किया जा सकता है। अब जगन्नाथ जी के मंदिर की भीत पर जो 'तथा कथित' कुरुचिपूर्ण दृश्य खुदे हुए हैं, उनके विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में वे कला के अंग समझे जाते थे। वात्स्यायन मुनि ने इसका नाम 'पाञ्चालिकी' दिया है। अन्यान्य ललित-कलाओं के समान यह शास्त्र भी

---

[1] यहाँ उल्लेख योग्य विषय यह है कि ब्रह्म पुराण में चक्र को कुछ भी माहात्म्य नहीं दिया गया है।

सिखाया-पढ़ाया जाता था, तथा उस विषय के विशेषज्ञ 'कलाचार्य' कहलाते थे। किन्तु रुचि में परिवर्त्तन होने के कारण आज हम लोग उन्हें बुरा मानने लगे हैं। इस दृष्टि से विचार करने से यही कहना पड़ता है कि यह कला भारतीय थी, तथा किसी विशेष धार्मिक संप्रदाय से कदाचित् ही इसका संबन्ध रहा हो। ऐसी दशा में कुल बातों पर ध्यान देने से समालोचकों का मन्तव्य ठीक नहीं जँचता।

जगन्नाथ शबर जाति के देवता थे—

यद्यपि जगन्नाथ, बलराम और उनकी बहन सुभद्रा आदि का पूजन बौद्ध मत से सम्बन्धित नहीं है, तथापि प्रारम्भिक दशा में वे विशुद्ध हिन्दू देवता थे, सरासर ऐसा कहने से कुछ खटक-सी आती है और इसके लिये उत्तरदायी है जगन्नाथ जी के प्रकट होने का विवरण!

स्कन्द पुराण का कथन है कि रौहिण तालाब के पश्चिम में बड़े प्राचीन काल से शबर जाति की एक छोटी-सी बस्ती थी जिस स्थान के भीतर से होती हुई एक तंग पगडंडी जंगल में स्थित विष्णु भगवान् के 'आलय' तक जाती थी। वहीं शंख-चक्र-गदा पद्म-धारी भागवान् जगन्नाथ जी की जीती-जागती मूर्त्ति विराजती थी। इसके पहले उस मूर्त्ति के अस्तित्व के बारे में किसी को पता नहीं था (रहस्यस्थः)। शबर जाति के लोग उसकी अर्चा करते थे, तथा उसी के सहारे वे जीवन निर्वाह करते थे (उपजीव्यः)। ये सब शबर वैष्णव मत के मानने वाले थे, तथा राजा इन्द्रद्युम्न का भेजा हुआ पुरोहित विद्यापति से विश्वावसु नाम के जिस बूढ़े शबर को भेंट हुई थी, वह उसी समय हरि-पूजन समाप्त कर बाहर निकल आया था, तथा वह माला पहने तथा चन्दन लगाये हुए था। आगे चल कर कहा गया है कि विश्वावसु ने जो भोजन की वस्तु विद्यापति के सम्मुख रखी वे दर्शनार्थी देवताओं की चढ़ायी हुई थी [1]।

ऊपर के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है—

(अ) प्रारम्भिक दशा में रौहिण तालाब और अक्षयवट के बीच जो

---

[1] स्कंदपुराण, पुरुषोत्तमक्षेत्र माहात्म्य, ७।२९-८।४९;

कुंज था उसी में शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी भगवान् विष्णु विराजते थे; लोग उन्हें जगन्नाथ भी कहते थे।

(अ) शबर जाति के लोग उनकी अर्चा करते थे, तथा उनके अस्तित्व के बारे में बाहरी दुनियाँ को पता नहीं था। दूसरे शब्दों में, उत्कल देश के विष्णु भगवान् जिनका दूसरा नाम जगन्नाथ था, पहले-पहल शबर जाति के इष्ट देव थे। अब इस शबर जाति की उत्पत्ति के बारे में साहित्यिक उल्लेख जो कुछ भी उपलब्ध होता है, वह बिलकुल आशाप्रद या उत्साहजनक नहीं है।

यद्यपि यजुर्वेद के पुरुष मेध सूक्त में शबरों का उल्लेख नहीं हुआ है[१], फिर भी ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि अंध्र, पुंड, शबर, पुलिन्द और मुतिब समुदाय के लोग विश्वामित्र के त्यागे हुए पुत्रों की सन्तति में से थे[२]। बौधायन श्रौत सूत्र में कहा गया है कि ऐसे ब्राह्मण जो सीमान्त को, जहाँ शबर और पुलिन्द लोग बसते हैं, गये हुए हों, उन्हें ऋत्विक् न बनाया जाय[3]। महाभारत में कहा गया है कि वशिष्ठ भगवान् को नन्दिनी नाम की गाय के गोबर (शकृत्) से अनगिनत शबर उत्पन्न हुए[४]। आगे चलकर शान्ति पर्व में कहा गया है कि दक्षिण के अंध्रक, पुलिन्द, मद्रक, शबर प्रमुख समुदाय पापी (पापकृत्) हैं[५]।

इसके विपरीत मनु-संहिता[६] और महाभारत[७] में 'बाह्यों' की जो लंबी सूची दी गयी है, उसमें अंध्र, कैवर्त्त प्रमुख समुदायों का नाम आया है, किन्तु शबरों का नाम नहीं मिलता! किन्तु मत्स्य पुराण में अंध्र, शक, पुलिन्द, यवन, कैवर्त्त, आभीर और शबरों को "बहिश्चराः" (प्राचीन भारतीय समाज के बाहर) ऐसा माना गया है[८]। वायु पुराण में कारस्कर, पुलिन्द, आन्ध्र, शबर प्रमुख समुदायों के बारे में कहा गया है कि वे सिंध नदी के उत्तर किनारे तक की जो पाप-भूमि है वहीं के रहने वाले हैं[९]। हर्ष चरित में शबर जाति के बारे में कहा गया है कि वे विंध्याटवीं के निवासी थे[१०]।

---

[१] ३०।५ ....; [२] ७।३।१८; [3] २।३; [४] १।१७५।३७; [५] १२।२०७।४२-४४, [६] १०।३४; ३६; [७] १३।४८।१६......; [८] ५०।७५; [९] ७८।६६-७०; [१०] २।८।२३२;

बृहत्-धर्म पुराण में पुलिन्द, पुक्कश, खश, यवन प्रभृति के साथ-साथ शबरों को भी म्लेच्छ माना गया है जिनकी उत्पत्ति वेण के शरीर से हुई थी[१]।

प्लिनी ने उनका नाम 'स्वरि' (Suari) और टालेमी ने 'सबरे' (Sabarae) दिया है। अभी तक इनके वंशज विज़िगापटम् के पहाड़ी इलाकों, ग्वालियर तथा उड़िस्सा की सीमा पर दिखायी देते हैं।

ऊपर के उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि शबर जाति के लोग प्राचीन भारतीय समाज के बाहर थे तथा वे अपने ढंग से जगन्नाथ-रूपी विष्णु भगवान् का पूजन करते थे। विष्णु भगवान् के पूजने में कोई प्रतिबंध भी नहीं था, अतएव वैष्णव मत जाति-भेद की प्रथा पर बल नहीं देता। भविष्य पुराण में शक, हूण, यवन, पह्लव (पारसीक) तथा चीन के निवासी जिन्हे म्लेच्छ कहा गया है[२], ऐसी जाति के सदस्यों को भी विष्णु-भक्ति, अग्नि-पूजन, तप प्रभृति करने का अधिकार दिया गया है[३]। इस प्रकार उपर्युक्त कुल प्रमाणों पर विवेचन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि जगन्नाथ प्रमुख देवता जिनके दर्शन के लिये लाख-लाख हिन्दू देश के कोने-कोने से दौड़ते हैं, प्रारम्भिक दशा में शायद ही विशुद्ध हिन्दू देवता रहे हों। कालान्तर में लकड़ी की बनी हुई मूर्ति जिनकी शबर लोग अर्चा करते थे, विष्णु भगवान् का स्वरूप मान कर सनातन धर्म ने अपना लिया।

इस उक्ति के प्रमाण में परम्परागत एक अद्भुत रीति का यहाँ उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। रथ-यात्रा के प्रसंग में ठाकुर जी जब तक गुण्डिचा भवन में ठहरते हैं तब तक तथाकथित शबर जाति के लोग अब भी उनकी देख-रेख करते हैं। इन दिनों उड़िये पुरोहितों की एक भी नहीं चलती!

जैनियों की रथ-यात्रा का उत्सव

अन्त में जैनियों की रथ-यात्रा के बारे में दो-चार शब्द कह कर प्रस्तुत विषय समाप्त किया जाता है। बौद्ध और सनातन धर्मियों की देखा देखी ऐसा मालूम होता है कि जैन मत के अनुयायी भी कालान्तर में पार्श्वनाथ, महावीर प्रमुख तीर्थंकरों के सम्मान में रथ-यात्रा का उत्सव प्रति वर्ष समारोह के साथ

---

[१] ३.१३।४३-४; [२] प्रतिसर्ग, ३।७८; [३] प्रतिसर्ग, ४।४१-४२;

मनाने लगे। यहाँ पर कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि अंग और उपांगों में कहीं इस उत्सव का उल्लेख नहीं हुआ है। अतः अनुमान किया जाता है कि यह प्रथा उत्तर काल में चल निकली होगी।

पहले कहा जा चुका है कि जैन मत के अनुयायी साल में तीन बार असाढ़, कार्त्तिक और फागुन में अपने मंदिरों में अष्टाह्निक-पूजा पर्व मनाते हैं। यह उत्सव अष्टमी से पूर्णिमा-आठ दिन तक चालू रहता है। अन्तिम दिन, अर्थात् पूर्णिमा को कौमुदी महोत्सव नाम का त्योहार समारोह के साथ मनाया जाता है। उस दिन जैन लोग आमोद-प्रमोद करने में व्यतीत करते हैं। इसी दिन धूमधाम के साथ तीर्थंकरों का रथ भी निकाला जाता है।

इस प्रसंग में कहा गया है कि जैनियों की प्रायशः बौद्धों और सनातन धर्मियों से तना-तनी चलती थी। वैमनस्य का कारण यह होता था कि किस का रथ आगे रहे बौद्ध, सनातनी या जैनियों का[1]।

नव-रात्रि का उत्सव

लोक-प्रियता के विचार से संभवतः दीवाली और होली के बाद ही नव-रात्रि या दशहरा नाम के उत्सव का स्थान है। हमारे देश के प्रत्येक प्रान्त में यह त्योहार किसी न किसी ढंग से मनाया जाता है। कहीं सपरिवार देवी जी की सिंहवाहिनी मूर्ति का पूजन होता है, तो कहीं शस्त्रास्त्र की अर्चा की जाती है या राम-लीला के प्रसंग में रावण-वध और भरत-मिलाप के दृश्य दिखाये जाते हैं। पूर्वी प्रान्तों में इन्हीं दिनों दुर्गा-पूजा का उत्सव बड़ी धूमधाम के साथ मनाने की रीति है। दुर्गा देवी की प्राचीनता भी यथेष्ट है। किन्तु देवी जी की आधुनिक पूजन-विधि बहुत पुरानी नहीं है।

महिंजोदड़ो और हड़प्पा में प्रचलित महामायी मत

सिंध के महिंजोदड़ो और पंजाब के हड़प्पा के खंडहरों की पड़ताल करने से पता चला है कि वैदिक काल के आरंभ होने के कम से कम हजार वर्ष

[1] बृहत् कथा कोश, पृष्ठ ९३;

पहले उन नगरों के निवासी विश्व-संसार की सृजन हारिणी एक महामायी के अस्तित्व में विश्वास करते थे तथा सृष्टि-रहस्य का जीता जागता प्रतीक शिवलिंग की अर्चा करते थे। आगे चल कर उस देवी का नाम आदि शक्ति पड़ा। देवी से वे डरते थे, किन्तु वह शत्रुओं के वार से बचाती, उपज बढ़ाती, जीवन-मरण का निश्चय करती और सुख-दुःख की विधायिनी थी, लोग उनको प्रेम और भक्ति की श्रद्धाञ्जलि भी अर्पित करते थे। मूर्तियों की बनावट और अधिकता पर विचार करते हुए ऐसा अटकल लगाया गया है कि घर-घर में देवी महामायी की अर्चा होती थी।

पाश्चात्य देशों म प्रचलित मत

ताम्र काल की यह विशेषता केवल पश्चिमी भारत में ही सीमित नहीं थी। प्रत्नतत्त्वविदों का कहना है कि उस समय इस महामायी मत का प्रचार पश्चिम में मिश्र की नील नदी से लेकर सीधे सिंध नदी तक था। सिंध और पश्चिमी पंजाब के अतिरिक्त बलोचिस्तान, ईरान, मेसपोटेमिया, शाम, फ़िलिस्तीन, साइप्रस, क्रीट, बालकन प्रायद्वीप, मिश्र प्रभृति देशों में इस धर्म-मत का भारी बोल-बाला था। एशिया कोचक तथा भूमध्य सागर के आस-पास के देशों में महामायी के निकट ही और एक देवता दिखाई देते थे। भिन्न-भिन्न देशों में इस देवता का अलग-अलग नाम पड़ा था पश्चिमी अफ्रिका में वे टानिट और उनके पुत्र थे; मिश्र में आइसिस और होरस, फिनीशिया में आशटारोथ और तम्मुज़, एशिया कोचक में काईबील और एटिस तथा यूनान में वे रीआ और ज़िउस कहलाये जाते थे।

नाम में विषमता होते हुए भी आधारभूत कल्पना में एकरूपता थी। सभी देशों में आदि-देवी—महामायी,-प्रकृति या धरती देवी—चिर-कुमारी मानी जाती थी। परन्तु कालान्तर में देवी अपने अयोनिज, मानस,पुत्र की सृष्टि करती है, जो आगे चल कर उनका साथी या पति बनता है। निदान दोनों के सम्मेलन से कुल देव-देवी, जीव-जन्तु, पेड़-पौधों की उत्पत्ति हुई।

महामायी के साथ सृष्टि-रहस्य या उपज का निकट संबन्ध हड़प्पा में

प्राप्त लंबे आकार के एक चौकोर ठप्पे से सूचित होता है[1]। इसमें एक नंगी स्त्री का चित्र दिया हुआ है, जो सिर के बल खड़ी है और अपने टाँगों को ऊपर की ओर यथा शक्य फैलाये हुई है। इस स्त्री के गर्भाशय से कुछ पेड़-पौधे निकले हुए हैं।

इस चित्र के साथ भीटा में प्राप्त गुप्त काल के प्रारम्भिक दिनों में बने हुए मिट्टी के पटरे पर अंकित चित्र का मिलान किया जा सकता है। अंतर इतना ही है कि इसमें दी हुई स्त्री के गले से एक कमल का फूल निकल आया है[2]।

शाक्त मत से समता

हमारे देश में प्रचलित शाक्त या तांत्रिक मत पूर्व ऐतिहासिक काल में पश्चिमी एशिया में प्रचलित इस मत के साथ बहुत कुछ मिलता-जुलता है। शाक्त मत द्वैतवाद में अद्वैत भाव के सिद्धान्त पर बल देता है। इस मत के अनुसार देवी जी परा-शक्ति प्रकृति मानी गयी है जिसने सनातन पुरुष के संसर्ग में आकर निखिल संसार की सृष्टि की थी। शिव-रानी होने पर भी उसी ने शिव को जन्म दिया था। अतः वह शिव भगवान् से भी बढ़ कर महादेवी हैं। कुल देवताओं के सामूहिक तेज की जीती-जागती प्रतीक महामायो हैं, शिव के समान वह सृजन-हारिणी और साथ ही संहारकारिणी भी हैं। वही सनातन गर्भाशय है जिसमें कुल जीवों की उत्पत्ति होती है, फिर लय भी होता है। देवी जी हमारे राग-विराग और आशा-आकांक्षाओं की उसकाने वाली तथा ऋद्धि-सिद्धि की देनेवाली है। इसीलिये उनका और एक नाम महामाया है। इसी विचार से प्रेरित होकर भारत के अधिकतर प्रान्तों में आज तक दुर्गा जी की अर्चा की जाती है।

वैदिक कल्पना

उपर्युक्त भावनाओं का थोड़ा बहुत आभास ऋग्वेद के अन्तर्गत 'रात्रि

---

[1] मार्शल का महिंजोदड़ो, प्लेट १२।१२; [2] वही पृष्ठ ५२;

सूक्त'[1] और 'देवी सूक्त'[2] तथा अथर्ववेद का परिशिष्ट 'देवी-अथर्वशीर्ष'[3] नाम की ऋचाओं में मिलता है।

रात्रि सूक्त में "रात्रि रूपिणी देवों के उत्पन्न किये हुए जगत्" का उल्लेख हुआ है; पुनः देवी सूक्त में ' जगत् के पिता स्वरूप, आकाश को उत्पन्न करने" और "समस्त संसार के रचने" की कथा भी कही गयी है। फिर 'देव्यथर्वशीर्ष' में देवी कहती हैं "मुझसे प्रकृति-पुरुषात्मक (सत् और असत् के समावेश से निर्मित) जगत् उत्पन्न हुआ है।" प्रत्युत देवी जो स्वयं 'अजा', 'एका' और 'अमर्त्या' हैं। इस प्रकार समस्त विश्व-संसार की सृष्टि करने के अनन्तर देवी जीवों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धन-धान्य दिलाती हैं। 'रात्रि सूक्त' में (देवी की कृपा से प्राप्त धन देकर) ऋण अदा करने की बात कही गयी है तथा देवी की तुलना "दूध देने वाली गाय" से की गयी है। 'देवी सूक्त' तथा 'देव्यथर्वशीर्ष' में देवी जी अपने उपासकों को धन दिलाने दिलाने का आश्वासन देती हैं। पुनश्च 'देव्यथर्वशीर्ष' में देवी को "भुक्ति-मुक्ति-प्रदायिनी" कहा गया है।

भोजन की समस्या हल करने के अतिरिक्त देवी जी शत्रुओं के वार से जीवों की रक्षा कर उन्हें विराम देती हैं।

'रात्रि सूक्त' में "देवी जी की प्रशस्त गोद में सभी प्राणी निश्चिन्त सोते हैं" ऐसा कहा गया है। 'देवी सूक्त' में वह "शरणागतों की रक्षा करने के लिये असुरों का नाश करती हैं" इस प्रकार का आश्वासन दिया गया है। फिर 'देवी अथर्व शीर्ष' में उन्हीं को "असुर-नाशयित्री" कहा गया है।

इस प्रकार शत्रुओं के हमलों से जीवों की रक्षा करने के अतिरिक्त देवी जी उन में शक्ति का सञ्चार करती हैं। 'देवी सूक्त' में देवी जी दावा करती हैं "जीव मात्र में मैं शक्ति का संचार करती हूँ तथा उनकी बुद्धि को प्रखर करती

---

[1] १०।१२७।१ ८: [2] १०।१२५ १-८: [3] देव्युपनिषद्, पृष्ठ ५३... (शाक्त उपनिषद्, अड्यार):

हूँ।" पुनः 'देव्यथर्वशीर्ष' में देवी जी घोषणा करती हैं "कुल देवताओं की शक्ति का समावेश मुझ में है।"

अन्त में चल कर 'रात्रि सूक्त' के अनुसार देवी जी हमारी अविद्या का नाश करती है, कर्म फल की देने वाली है तथा इस भव-सागर के पार करने की नाव हैं। इसीलिये कुल देवता सामूहिक रूप से प्रार्थना करते हैं —

"भवभीतोऽहं संसारार्णवतारिणीं नमामि।"

ऊपर वेदोक्त सूक्तों का विश्लेषण कर प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है कि आर्यों के पूर्वज जिन-जिन भावनाओं से प्रेरित होकर महामायी की आराधना करते थे, लगभग उन्हीं सब विचारों को अपने सम्मुख रख कर वैदिक युग के आर्य भी देवी की बड़ाई करते थे। देवी जी स्वयं अजा होते हुए भी विश्व-संसार के कुल देवता, जीव तथा पेड़-पौधों की सृष्टि करती, उनका पालन-पोषण करती, शत्रुओं के वार से उन्हें बचाती तथा अन्त में उन्हें मुक्ति भी दिलाती हैं।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि आगे चल कर पुराणों में इन्हीं कुल आधारभूत कल्पनाओं बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया है। जैसे 'ब्रह्म पुराण' में शिव जी से रूठ कर जब उमा 'गौरी' बनने के अभिप्राय से कठोर तपस्या करने लगी तब स्वयं ब्रह्मा उनको मीठे-मीठे बचनों से समझा रहे हैं— सभी कुछ की आप सृजन हारिणी हैं; बनी-बनायी सृष्टि का विनाश न कीजिये; आप अपने तेज द्वारा तीनों लोक को थाम रखी हैं (धारयते)[1]।

पुनश्च उसी पुराण में पार्वती जी की विवाह-सभा में ब्रह्मा जी इन शब्दों में शिव जी के निकट देवी का परिचय देते हैं—आप स्वयं परा-प्रकृति हैं; आपकी भी सृष्टि इन्हीं ने की है, जगत्-संसार की सृष्टि का उत्स बनने के लिये आप की वह पत्नी बन रही हैं[2]। फिर लिंग पुराण में कहा गया है कि समग्र-संसार की पालन-पोषण करने वाली महादेवी लिंग-मूर्ति शिव जी की वेदी बनी; दोनों के

---

[1] ३४ ६ -६८; [2] ३६।४१-४२;

संसर्ग से संसार की सृष्टि हुई। पुनश्च, प्रकाश-स्तंभ स्वरूप शिव-लिंग माया-रूपी अंधकार के ऊपर विराज रहा है[१]। आगे चल कर कहा गया है—लिंग और वेदी के समावेश से अर्ध नारीश्वर मूर्ति का अविर्भाव हुआ। इन दोनों के सम्मेलन से ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई[२]। एक अन्य स्थान में कहा गया है—इनका जन्म अपने आप हुआ (स्वजा) है, मूर्तिमती आद्या प्रकृति होने के कारण आप सर्वदा शिव से मिली हुई हैं[३]।

ऊपर के उद्धरणों से प्रतिपादित होता है कि देवी को किसी ने उत्पन्न नहीं किया; वह स्वजा या अजा हैं; विश्व-संसार की सृजनहारिणी देवी जीवों का भरण-पोषण करती हैं तथा शिव-शक्ति के सम्मेलन से ब्रह्मा प्रमुख देवताओं का जन्म हुआ। सर्वोपरि सृष्टि-तत्त्व का जीता-जागता प्रतीक शिवलिंग है।

यहाँ पर लक्ष्य करने का विषय यह है कि जिन-जिन भावनाओं से प्रेरित होकर महिंजोदड़ो और हड़प्पा के निवासी शिवलिंग का पूजन करते थे, प्रायः उसी संकल्प को सामने रखकर वैदिक काल के आर्य हवन करते थे। अतएव गौरी-पट्ट पर विराजते हुए लिंग-मूर्त्ति शिव तथा यज्ञ-कुण्ड से निकलती हुई धधकती हुई आग की लौ (तेजस्), दोनों सृष्टि-तत्त्व के प्रतीक हैं। किन्तु अभिमानी आर्य प्रारंभिक दशा में हवन करने की रीति को शिष्ट मानते हुए 'शिश्न देवाः' अनार्यों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। अन्त में बहुत दिनों तक एक साथ रहते-बसते कालान्तर में लिंगमूर्ति शिव को आर्यों ने भी अपना लिया। बहुतों का कहना है कि यह घटना रूपक के आकार में दक्ष-यज्ञ के विघटन के प्रसंग में दर्शाया गया है।

वैदिक सूक्तों का व्यावहारिक मूल्य देवी सूक्त

अन्त में यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि ऊपर दी हुई ऋचाएँ सिद्धान्त मात्र थीं और उनका व्यावहारिक मूल्य कुछ भी नहीं था। किन्तु ऐसी धारणा भ्रांत है। देवी सूक्त के प्रसंग में मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है—वह (राजा सुरथ) और उस वैश्य ने देवी सूक्त का जप करते हुए तपश्चर्या की थी[४]।

---

[१] ६६।६-७, [२] ६६।८; [३] १०३।४३; [४] ६३।७

देवी सूक्त का दूसरा नाम दुर्गा सावित्री है। दुर्गा देवी की अर्चा करते समय अभी तक इस मंत्र को पढ़ते हुए जप और होम करने की प्रथा है।

महर्षि अम्भृण की कन्या का नाम वाक् था। वह बड़ी ब्रह्मज्ञानिनी हो गयी। भाष्यकार का कथन है कि स्वयं देवी भगवती वाक् बन कर सर्व प्रथम इस ऋचा को दोहरायी थी। सरसरी निगाह से देखने से देवी सूक्त नाम के मंत्र के देवता अग्नि हैं। अतः यह कहना स्वाभाविक है कि इस मंत्र द्वारा अग्नि से ही प्रार्थना की जाती है।

अभी-अभी ऊपर कहा जा चुका है कि यज्ञ-कुण्ड में से निकलती हुई, भभकती हुई आग की लपट और गौरी पट्ट पर विराजते हुए शिवलिंग में कोई अन्तर नही। दोनों सृष्टि-रहस्य के प्रतीक हैं। तेजस् या शक्ति की धारण करने वाली अग्नि हैं। इस विचार से दुर्गा देवी और धधकती हुई आग की अभिन्नता स्थापित होती है।

पुनश्च शाक्तों का सिद्धान्त है कि शक्ति और शक्तिमान् में कोई पृथकता नहीं। शक्तिमान् निष्क्रिय रहता है, किन्तु शक्ति क्रियाशील होती है। इस विचार से शक्तिमान् अग्नि निष्क्रिय हैं, परन्तु अग्नि की शक्ति सक्रिय हैं।

अग्नि की शक्ति, स्वाहा देवी, भगवती की रूपान्तर हैं। दुर्गा-सप्तशती के अनुसार—

"त्वं स्वाहा, त्वं स्वधा, त्वं हि वषट्कार स्वरात्मिका" इत्यादि।

संहिता और उपनिषदों में बार-बार अग्नि को रुद्र की विभूति माना गया है। अतः देवी सूक्त के जपने से अग्नि की शक्ति, स्वाहा रूपिणी देवी दुर्गा शत्रुओं के वार से रक्षा करती हैं तथा वह पाप से भी बचाती हैं।

रात्रि सूक्त

इस सूक्त में रात्रि देवी की बड़ाई की गयी है। रात्रि देवी दो प्रकार की हैं—जीव रात्रि और ईश्वर रात्रि। नित्य के संसार के साधारण जीवों का व्यवहार जिसमें लुप्त होता है, वह है जीव रात्रि; प्रत्युत ईश्वर के जागतिक व्यवहार का जिसमें विलयन होता है, वह है ईश्वर रात्रि। ईश्वर रात्रि का दूसरा नाम काल रात्रि है। दुर्गोपनिषद् में दुर्गा देवी को काल रात्रि कहा गया है।

देवी के काल रात्रि होने के कारण ऋग्वेद के रात्रि सूक्त द्वारा दुर्गा देवी की बड़ाई की गयी है। ऋग्वेद ब्राह्मण में रात्रि सूक्त के पाठ करने का विधान है[१]। मारीच कल्प में दुर्गा सप्तशती के पारायण करने के पहले रात्रि सूक्त और अन्त में देवी सूक्त का पाठ करने का सुझाव दिया गया है।

देव्यथर्व शीर्षम्

नाम ही से प्रकट होता है यह स्तोत्र अथर्व वेद का एक विशिष्ट भाग है। किन्तु आज-कल की छपी हुई संहिताओं में यह मिलता नहीं। तथापि इसकी बड़ी महिमा बतायी गयी है। दुर्गा सप्तशती के पारायण करने से पहले इसके पाठ करने से देवी की कृपा शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त होती है। ऊपर ऋग्वेद और अथर्व वेद के प्रमाण उद्धृत किये गये हैं। नीचे शेष दो संहिताओं का प्रमाण भी दिया जा रहा है।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में सुरथ राजा के दुर्गा-पूजन के प्रसंग में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि राजा ने 'वेदोक्त क्रम' के अनुयायी होकर देवी जी की अर्चा की थी[२]। पुनश्च गौरी-व्रत के प्रसंग में उसी पुराण का कहना है कि देवी जी को पूजते समय गोपिनियों ने जो बीजक मंत्र का उपयोग किया था, उसका उत्स सामवेद था[३]। फिर अन्तिम दिन उन्होंने जिस स्तोत्र द्वारा देवी की बड़ाई की थी, वह शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा के अन्तर्गत है[४]। अन्त में उसी पुराण में जो दुर्गा कवच दिया गया है उसके बारे में भी कहा गया है कि वह काण्व शाखोक्त है[५]।

आगे चल कर उत्तर काल के वैदिक साहित्य में देवी के भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं जिनसे हम लोग परिचित हैं। पुनश्च कहीं-कहीं देवी जी की सेवा में उनके नाम से आहुति देने का भी सुझाव दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण में त्र्यम्बक हविर्याग के प्रसंग में देवी अम्बिका को रुद्र भगवान् की बहन माना गया है[६]। उसका कारण संभवतः यह है कि प्रारम्भिक दशा में दोनों

[१] ४।१६.　[२] २।६४।१;　[३] ४।२७।८;　[४] ४।२७।१६८;
[५] ३।२६।२३,　[६] २।६।२।९;

की उत्पत्ति एक ही स्रोत से हुई थी। सांख्यायन श्रौत सूत्र में भवानी तथा रुद्राणी का नाम आया है[१]। हिरण्यकेशी गृह्य सूत्र में शूलगव यज्ञ के प्रसंग में रुद्र भगवान् की पत्नी की सेवा में हवन करने का सुझाव दिया गया है[२]। तैत्तिरीय आरण्यक में देवी जी की प्रार्थना के प्रसंग में दुर्गा, कात्यायनी तथा कन्याकुमारी प्रभृति नामो का उल्लेख हुआ है[३]। केन उपनिषद् में देवी को उमा-हैमवती कहा गया है[४]। यद्यपि नैघंटुक में दुर्गा देवी का नाम नहीं मिलता, बृहद्देवता में दुर्गा का नाम आया है[५]।

उत्तर काल के वैदिक साहित्य में दुर्गा देवी (पाली और प्राकृत)

पालि और प्राकृत साहित्य में देवी जी के नाम का उल्लेख स्वभावतः बहुत कम हुआ है। नाया धम्म कहाओ में कहा गया है कि जब बीच समुद्र में एक नाव डूबने लगी तब बहुत से यात्री प्रशान्त-रूपिणी, बहुते से कठिन कामों की करने वाली और महिषारूढ़ा (कोट्ट केरियाणय, उवाइय सयाइणि) दुर्गा देवी से प्रार्थना करने लगे[६]। जसहर-चरिउ में कहा गया है कि चैत्र में जब कात्यायनी देवी की अर्चा की जाती है तब चरु-ग्रास या भात का भोग चढ़ाने की रीति है[७]।

रामायण और महाभारत

आश्चर्य की बात है सारे रामायण में कहीं भी दुर्गा देवी का नाम तक नहीं आया है। अवश्य, कहीं-कहीं तपोधना[८], लोक नमस्कृता[९], हिमवान् और मैना की दूसरी पुत्री[१०] उमा देवी की चर्चा की गयी है। महर्षि वाल्मीकि का कथन है कि राम ने जो रावण का बध किया वह भी देवी जी की सहायता से नहीं, जैसी कि हमारी धारणा है, परन्तु अगस्त्य ऋषि के सुझाव देने पर आदित्य-हृदय नाम के सूर्य मंत्र का जपकर[११]।

(महाभारत में दो बार दुर्गा-स्तोत्र आया है। पहली बार विराट् की राजधानी में प्रवेश करते समय विपन्न युधिष्ठिर ने दुर्गा देवी से प्रार्थना की

---

१ ४।१६।७; २ २।३।८।७; ३ १०।१; ४ ३।१२; ५ २।७७;
६ १।८ ६१; ७ २,९; ८ १।३२।१६; ९ १।३५।२०;
१० १।३५।१५; ११ ६।१०५

थी[१]; दूसरी बार कुरुक्षेत्र का महायुद्ध छिड़ने के पहले कृष्ण भगवान् के सुझाव देने पर अर्जुन ने दुर्गा जी की स्तुति पाठ की थी[२]।)

इनके अतिरिक्त देवी के भिन्न-भिन्न नाम, जैसे कालिका[३], दुर्ग तरणी[४], उमा[५], रुद्राणी[६], विन्ध्ये तव स्थानम्[७], पार्वती[८], महेश्वरी[९] प्रभृति का उपयोग किया गया है तथा देवी की पूर्व जन्म की कृतियों का भी उल्लेख हुआ है[१०]।

हरिवंश में आर्या स्तव के प्रसंग में साफ-साफ कहा गया है कि शबर, बर्बर और पुलिन्द लोग देवी जी का पूजन करते थे[११]। पुनश्च शोणितपुर में बाणासुर ने जब अनिरुद्ध को बन्दी कर लिया और घमासान युद्ध छिड़ने ही वाला था, तब अनिरुद्ध ने आर्यास्तव का पाठ किया[१२]।

ऊपर के उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि—

(अ) वैदिक देवता होते हुए भी संभवतः पहले पहल दुर्गा देवी की लोक प्रियता उषस् या पृथिवी प्रमुख वैदिक देवी जैसी नहीं थी। इसीलिये दुर्गा का नाम तक निघंटु में आया नहीं। *क्या इसका कारण यह था कि प्रारंभिक दशा में देवी जी अनार्यों की देवी थीं ?*

(आ) शक्तिस्वरूपिणी भगवती सृजनहारिणी और लोक-पालिका होने के अतिरिक्त शत्रुओं का नाश कर शान्ति देने वाली देवी मानी गयी। इस प्रकार कालान्तर में दुर्गा देवी युद्ध की अधिष्ठात्री देवी बन गयी।

(इ) देवी जी की सहायता से श्री रामचन्द्र जी ने जो रावण का वध किया था, यह दंत-कथा बाद में चल निकली।

परन्तु ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों-त्यों देवी जी के प्रभाव की निरन्तर अभिवृद्धि होती गई। इसका प्रमाण उन दिनों के रचित स्मृति, पुराण, काव्य, आख्यान, नाटक और शिला-लेखों से अधिकतर मिलता है।

---

[१] ४।६।१…; [२] ६।२३।४…; [३] २।११।४०; [४] २।११।३४; [५] २।११।५१; [६] २।११।४…; [७] ४।६।१७; [८] १०।७।४६; [९] १२।२८३।६२; [१०] ५।११९।६; १२।२८२ इत्यादि; [११] २।२ ७; [१२] २।१२०।६…;

स्मृति और पुराण

वृद्ध-हारीत स्मृति में बुद्ध, रुद्र, भैरव, यम प्रमुख देवताओं के साथ-साथ दुर्गा को भी तामस देवता माना गया है[1]। संभवतः देवी जी तमोगुण के द्योतक युद्ध-विग्रह, हिंसा, क्रोध आदि प्रवृत्तियों से संयुक्त होने के कारण तामस देवता मानी गयी।

जैन पद्म पुराण (६७८ ई०) और आदि पुराण (८ वीं शती) में हिन्दुओं के कुल पुराणों के नाम मिलते हैं। अतः अनुमान किया जाता है कि सातवीं शती तक सभी पुराणों की रचना हो चुकी थी; तथापि यह मानी हुई बात है कि नये विषयों के समावेश और प्रक्षेपण का काम बराबर जारी रहा।

देवी जी की पूजन-विधि के प्रसंग में मार्कण्डेय पुराण की महत्ता अत्यधिक है। इसी ग्रंथ के अन्तर्गत 'देवी माहात्म्य', 'दुर्गा सप्तशती' या 'चण्डी' नाम का एक विभाग है। संभवतः प्रारंभिक दशा में यह पुस्तिका एक अलग रचना रही होगी, तथा अनुमान किया जाता है कि मालती-माधव नाटक (७वीं शती) की रचना के पहले अर्थात् छठी शती तक वह बन गयी होगी। बाद में यह पुस्तिका मार्कण्डेय पुराण के साथ जोड़ दिया गया। उक्त पुराण का कहना है कि राज्य-भ्रष्ट सुरथ राजा तथा घर से खदेड़े हुए वैश्य समाधि निरन्तर तीन वर्ष तक अपने शरीर का रक्त चढ़ाते हुए मिट्टी की बनी हुई मूर्ति पधराकर देवी को पूजते रहे[2]।

पद्मपुराण के उत्तर खंड में शंभु-वल्लभा गौरी से एक वैश्या पेट में बच्चा आने पर धूम-धाम के साथ पूजा चढ़ाने की मनौती करती है[3] मत्स्य पुराण में दश-भुजा कात्यायनी देवी की मूर्ति का विशद वर्णन किया गया है[4]। स्कंद पुराण के काशी खंड में दुर्गा नाम की व्युत्पत्ति के प्रसंग में कहा गया है कि देवी ने 'रुरु' दैत्य के दुर्ग नाम के बेटे का वध किया था। तभी से देवी का एक नाम दुर्गा हुआ[5]। लिंग पुराण का कथन है कि ब्रह्मा के अनुरोध करने

---

[1] १।१७८; ११।२६३; [2] ९२।६; ब्रह्म वैवर्त्त पुराण १।६३...;

[3] २०१।४८-५०; [4] २६०।५५-६६; [5] ७१-७२;

पर शिव जी ने अपने बाँये अंग से देवी का सर्जन किया था। आगे चलकर वह दक्ष-पुत्री बनी[1]। वराह पुराण का कहना है कि इन्द्र का वध कर सके ऐसा एक पुत्र प्राप्त करने की अभिलाषा से राजा सिंधुद्वीप उत्कट तपस्या करने लगा। पूर्व जन्म में वह त्वष्टा का पुत्र था। इन्द्र ने उसको समुद्र के फेन से मार गिराया था। कालान्तर में वरुण महाराज की धर्म पत्नी वेत्रवती नदी मानवी का रूप धारण कर राजा के निकट पहुँच गयी। इस प्रकार प्राग्ज्योतिषपुर के वेत्रासुर नाम के दानव की उत्पत्ति हुई। वयस्क हो जाने पर उसने सारे संसार पर अपना रोब जमाया। इससे घबराकर कुल देवता ब्रह्मा जी के पास पहुँचे। ब्रह्मा ने तब ध्यान-बल से शुभ्रवसना, किरीटिनी, सिंह-वाहिनी, अष्ट-भुजा एक देवी का सर्जन किया। उसी ने वेत्रासुर प्रमुख कुल असुरों का नाश किया। विपत्ति से छुटकारा मिलते ही शिव प्रमुख देवताओं ने देवी की बड़ाई की। ब्रह्मा के कहने से तभी से वह हिमालय पहाड़ पर रहने लगी। विपत्ति से निस्तार पाने की आशा से लोग नवमी को देवी को पूजने लगे। इसी समय ब्रह्मा ने उनको भविष्य में महिषासुर के वध करने का काम सौंपा था[2]।

कूर्मपुराण में देवी माहात्म्य नाम के अध्याय में हैमवती उमा की उत्पत्ति के प्रसंग में देवी के सहस्र नाम की लम्बी सूची दी गयी है। अन्त में कहा गया है कि श्रद्धाभक्ति से शंकर भगवान् और पार्वती को पूजने से अविनाशी संपत्ति प्राप्त होती है[3]। वामन पुराण में रम्भासुर के पुत्र महिषासुर का जन्म-विवरण तथा रंभ की चिताग्नि से रक्तबीज की उत्पत्ति का वर्णन हुआ है। दोनों ने जब देवताओं को पराभूत किया, तब कुल देवताओं के सामूहिक तेजस् के साथ कात्यायन मुनि का तेजस् मिलने पर देवी कात्यायिनी की उत्पत्ति हुई। देवी की अठारह भुजाएं थीं तथा विंध्याचल उनका आवास बना। देव-नाग-सिद्ध-विद्याधर द्वारा पूजित होने पर देवी का नाम दुर्गा पड़ा। वहीं पर देवी ने महिषासुर का वध किया। इस पर देवताओं ने जब देवी की बड़ाई की तब वह हर-पादपद्म में

[1] [illegible]।२-१३; [2] २८।१ [illegible]; [3] १२।१-२२;

विलीन हो गयीं। आगे चलकर देवी हिमालय तथा मैना की पुत्री उमा बनी और शिव भगवान् से उनका विवाह हुआ[१]।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में कहा गया है कि कृष्ण भगवान् को पति के रूप में प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा से प्रेरित हो ब्रज-मंडल की गोपियों ने यमुना नदी के किनारे बालू की बनी हुई पार्वती की मूर्ति की अर्चना की थी[२]। भागवत पुराण में इस कृत्य का नाम कात्यायन्यर्चन व्रत रखा गया है[३]।

भागवत पुराण का कथन है कि नारायण ने देवी योग-माया को नन्द-पत्नी यशोदा के गर्भ में जन्म लेने को कहा। इसी प्रसंग में कहा गया है कि दुर्गा, भद्रकाली, चंडी, अम्बिका प्रभृति देवी के भिन्न-भिन्न नाम हैं[४]। पुनश्च उसी पुराण का कहना है कि स्वयंवर सभा में जाने के पहले देवी रुक्मिणी अंबिका के मंदिर में पूजा चढ़ाने गई थीं। कृष्ण भगवान् वहीं से उनको उठा कर चलता हुए[५]।

नारद पुराण में क्वार के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से नवमी तिथि तक देवी जी को मनाने के लिये नौ दिन घट-स्थापन कर उसके चारों ओर जौ और गेहूँ बो उनका पूजन करने का निर्देश दिया गया है। इन दिनों नियमानुसार मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत 'चरित-त्रितय' (दुर्गा-सप्तशती) का पाठ और कुमारी-पूजन करने को भी कहा गया है[६]। महानवमी की रात को शस्त्रास्त्र, छत्र, ध्वज, गज, अश्व, गो, वृष, पुस्तक प्रभृति को पूजने तथा देवी जी की सेवा में भैंसे का बलि चढ़ाने का भी सुझाव दिया गया है[७]। दूसरे दिन विजयादशमी के उपलक्ष्य में सीता समेत राम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न को पूजने का कहा गया है तथा तीसरे पहर गाजे-बाजे के साथ सवारी निकाल कर गाँव के बाहर चले जाने का सुझाव दिया गया है। फिर किसी नदी या तालाब

[१] १८-२१; ४३-४४; [२] ४।२७।२-१३; [३] १०।२२।१-५;
[४] १०।२।६-१२; [५] १०।५३।३९......; [६] १।११०।३०-३४;
[७] १।११८।१७-२२;

के किनारे अथवा जंगल में पत्ती या भूसे की बनी हुई मूर्ति को शत्रु मान कर मार गिराने या शत्रुओं को दबाने के लिये यात्रा करने को कहा गया है[1]।

भविष्य पुराण में क्वार की शुक्लाष्टमी को अष्टादश-भुजा की अर्चा करने, तथा आषाढ़ या सावन की शुक्लाष्टमी को चण्डिका देवी को पूजने को कहा गया है[2]।

रस साहित्य

पुराणों के अतिरिक्त प्राचीन काल में रचित रस साहित्य में भी देवी का नाम अधिकतर मिलता है। इससे पता चलता है कि देवी जी को पूजने की रीति क्रमशः लोक-प्रिय होती जाती थी, यहाँ तक कि ब्रह्म वैवर्त्त पुराण के अनुसार गाँव-गाँव में देवी ग्राम-देवी बनी, तथा घर-घर में वह गृह-देवी बनी''[3]।

भास के चारुदत्त नाटक में नायक अपने विदूषक को चौराहे पर मातृकाओं की सेवा में बलि चढ़ाने को कहता है[4]। मणि-मेखला नाम के तमिल काव्य में दुर्गा का नाम मिलता है[5]।

कवि कालिदास का कुमार संभव काव्य देवी-माहात्म्य की विजय-वैजयन्ती कहने से अत्युक्ति नहीं होगी। आश्चर्य की बात है कि कवि के रचित काव्यों में देवी जी के कई नाम, जैसे पार्वती[6], उमा[7], अंबिका[8], भवानी[9], गौरी[10] इत्यादि मिलते हैं। किन्तु कहीं भी महिषासुरमर्दिनी दुर्गा देवी का नाम आया नहीं है। इस विलक्षणता की एक मात्र सफाई यह दी जा सकती है कि कमनीयता, माधुर्य और सौन्दर्य के भूखे कवि रण-रंगिनी दुर्गा का नाम लेकर मुग्ध पाठकों के हृदय में वीभत्स रस जाग्रत नहीं करना चाहते थे। यहाँ

---

[1] १।१११।२०-२६; [2] माध्यम पर्व (२) ।८।२६-२७;
[3] १।६६।२० [4] पहला अंक; मिलाओ मृच्छकटिका, पहला अंक;
[5] २२।१८७; [6] रघुवंश, ११; कुमार० ४।१; [7] कुमार० ११२६; ३।५८;६२; [8] कुमार० ८।१८; ७७; [9] मेघदूत, पूर्व० ४०।४८;
[10] कुमार० ४।५०;७१;७।९५;

उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि मेघदूत में एक ही बार 'चण्डीश्वर' शब्द का उपयोग हुआ है[१]।

दण्डिन् के दशकुमार चरित में गिरिराज-कुमारी अम्बिका[२] और विन्ध्यवासिनी देवी[३] का उल्लेख हुआ है। नागानन्द नाटक में नायक और नायिका की पहले-पहल एक गौरी-मंदिर में भेंट हुई थी[४]। अन्त में चल कर दिखाया गया है कि गौरी देवी की कृपा से जीमूतवाहन ने पुनर्जीवन प्राप्त किया[५]। हर्ष चरित के कवि बाणभट्ट ने श्री हर्ष के मस्तक पर रखी हुई माला की तुलना नृमुण्डमालिनी दुर्गा देवी से की है[६]। अन्त में व्याघ्रकेतु द्वारा लाये हुए पहाड़ी नव-युवक के वर्णन-प्रसंग में कवि ने महानवमी तिथि को भैंसा प्रमुख जीवों की बलि चढ़ाने की रीति का उल्लेख किया है[७]। कादम्बरी में दुर्गा, चण्डिका, मातृका, इत्यादि शब्द प्रायः मिलते हैं। एक बूढ़े द्रविड़ की देख-रेख में चण्डिका मंदिर का होना, रानी विलासवती की सन्तान-प्राप्ति के लिये दुर्गा देवी से मनौती करना तथा अवन्ती की मातृका—अतीव साधारण उदाहरण हैं[८]।

शिलालेख

रस साहित्य के अतिरिक्त उन दिनों के शिलालेखों से भी यह प्रतीत होता है कि गुप्त वंशी सम्राट् कुमार गुप्त (४१५-५५ ई०) के शासन-काल से देवी जी की लोक-प्रियता की अभिवृद्धि होती गयी तथा बहुत से नामी शासक देवी के उपासक हो गये और कई प्रख्यात राजवंश देवी को कुल-देवी मानने लग गये थे।

स्कन्द गुप्त के विहार शिलालेख में मातृभिः शब्द आया है और उस पर उनकी मूर्तियाँ भी खुदी हुई हैं[९]। अमरकोश के अनुसार ये मातृका सात हैं—अर्थात् ब्राह्मी, माहेश्वरी, कुमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और

---

[१] पूर्व, ३७; [२] १०।११६; [३] ११।१२७;१३।१६६; [४] पहला अंक; [५] पांचवा अंक; [६] २।६१, [७] ८।१२३२; [८] ४०१; १२८; ५८६; [९] फ्लीट का गुप्त इन्स्क्रिपशन्स, पृष्ठ ४६;

चामुण्डा। एलोरा की १४वीं गुफे में मातृकाओं की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। नागार्जुनीगिरि-गुहा के शिलालेख से पता चलता है कि कनौज के अनन्त वर्मन मौखरी बड़े देवी-भक्त हो गये तथा उन्होंने महिषासुर-मर्दिनी कात्यायनी या भवानी की मूर्ति स्थापित की थी[१]। पुलकेशिन् (२) चालुक्य के ताम्र लिपि में 'सप्त मातृभिः' शब्द का प्रायशः उल्लेख होता है[२]। गंगधार शिलालेख में 'मातृ' शब्द का उल्लेख हुआ है[३]। पूर्वी चालुक्य वंशी महाराज जय सिंह (१) देवी के परम भक्त हो गये[४] तथा काकुस्थ वर्मन् के शिलालेख से पता चलता है कि कदंब वंश के शासक शक्ति के उपासक थे[५]। उपर्युक्त प्रमाणों पर निर्भर होकर फ्लीट तथा भंडारकर ने सम्मति प्रकट की है कि चालुक्य और कदंब वंशों की कुल-देवी महामाया थीं[६]।

गुर्जर-प्रतीहार वंश के कई शासक देवी जी के उपासक थे। महीपाल-विनायक पाल के बनारस शासन (९४२-४३ ई०) में देवी भगवती का उल्लेख हुआ है[७]। पुनः महेन्द्र पाल (२) के प्रतापगढ़ शिलालेख (९४६ ई०) में दुर्गा-देवी की बड़ाई की गयी है[८]। ऊपर के उद्धरणों से ऐसा मालूम होता है कि

(अ) युद्ध से संबंधित विषयों की अधिष्ठातृ देवता होने के अतिरिक्त इन दिनों देवी आदर्श पत्नी मानी गईं;

(आ) वैदिक काल की पृथ्वी देवी की पूछ-ताछ कम हो जाने के कारण दुर्गा जी क्रमशः उपज की देवी भी मानी गयीं;

(इ) मूर्ति बना कर देवी की पूजन-विधि तथा उसका क्रम भी इस समय निश्चित कर दिया गया; साथ ही अस्त्र-पूजा तथा दशमी के प्रसंग में कुछ लोकोत्सव भी इसके साथ जोड़ दिये गये;

[१] फ्लीट का गुप्त इन्स्क्रिपशन्स पृष्ठ २२७ [२] इंडियन आण्टिक्वरी, ८।२४१; ७।२६०; [३] फ्लीट, पृष्ठ ७६; [४] इंडियन आण्टिक्वरी, १३।१२७-१३८; १६, १६४; [५] इंडियन आण्टिक्वरी. ६।२७; [६] स्मारक ग्रंथ, ३।६१; ३।२१०; [७] इंडियन एन्टि०, १५।१३८; [८] एपिग्राफिका इंडिका, १४।१७६...

(ई) यद्यपि केवल नारद पुराण में दशमी को रामचंद्र आदि को पूजने का सुझाव दिया गया है, फिर भी अभी तक दावा पेश नहीं किया गया है कि देवी जी की सहायता से श्री रामचंद्र जी ने रावण का बध किया था।

उप-पुराण

अब तक महापुराण और रस साहित्य में जो भी कुछ कमी थी उसकी पूर्त्ति उप-पुराण और निबंधों में हुई। किन्तु कठिनाई इस बात की है कि उप-पुराणों के रचना-काल के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। ये सब उप-पुराण अधिकतर या तो विशेप-विशेप देवताओं के सम्मान में समय-समय पर रचे गये, या जब जिस देवता की अधिक चलती थी तब उनकी महत्ता का वर्णन प्राचीन पुस्तकों के ठाठ में जोड़ दिये गये। पुनः कुछ उप-पुराण किसी-किसी महापुराण के परिशिष्ट माने गये। इस प्रकार सौर पुराण जो ब्रह्म पुराण का परिशिष्ट माना जाता है, शैव मत के प्रचार के लिये रचा गया; विष्णुधर्मोत्तर गरुड़ पुराण का अंश माना गया इत्यादि। कालिका पुराण, देवी भागवत, बृहद्धर्म पुराण शाक्तमत के पोषक हैं। यद्यपि आवश्यकतानुसार जोड़-जाड़ का काम बराबर जारी रहा, तथापि अनुमान किया जा सकता है कि संभवतः १००० ई० तक लगभग सभी उप-पुराण बन गये थे, अतएव अल बेरुनी ने विष्णुधर्मोत्तर जैसे कुछ उप-पुराणों का उपयोग किया था।

निबंध

निबंधों की संख्या यद्यपि अच्छी है; परन्तु प्रस्तुत लेख में कुल पाँच ही का उपयोग किया गया है। वे इस प्रकार हैं—

(१) देवगिरि या प्राचीन महाराष्ट्र के रहने वाले हेमाद्रि का चतुर्वर्ग चिंतामणि (१३वीं शती);

(२) शूलपाणि का दुर्गोत्सव विवेक (१५वीं शती);

(३) बंगाल प्रान्त के रघुनन्दन शिरोमणि का दुर्गा पूजा तत्त्व और गोविन्दानन्द की वर्ष-क्रिया-कौमुदी (१६वीं शती ; और

(४) महाराष्ट्र प्रान्त के कमलाकर भट्ट का निर्णय-सिन्धु (१७वीं शती)।

उपर्युक्त उप-पुराण और निबंधों को देखने से ऐसा विश्वास होता है कि आजकल जिस ढंग से घट की स्थापना या मूर्ति बना कर दुर्गा देवी का पूजन किया जाता है उसका विकास लगभग १००० ई० के पहले ही हो चुका था।

नीचे उसी का सविस्तार वर्णन हो रहा है—

नवरात्रि व्रत के पालन करने का उद्देश्य

देवी जी की अर्चा के उद्देश्य के प्रसंग में देवी भागवत में बड़ा ही संगत कारण दिखाया गया है। कहा गया है कि शरत् और वसन्त, दोनो ऋतुओं में नाना प्रकार की बीमारी फैलती हैं। इसलिये इन ऋतुओं के नाम 'यम-दंष्ट्रा' या यमराज के दाँत पड़े हैं। अतः जनता की भलाई करने के उद्देश्य से शरत और वसन्तकाल में भक्त्या नवरात्रि के व्रत का पालन करना चाहिये[1]। पुनश्च कहा गया है कि इसी व्रत का पालन कर रामचंद्र जी ने रावण प्रमुख शत्रुओं का नाश कर सीता देवी का उद्धार किया तथा फिर से राजगद्दी भी प्राप्त की[2]। आगे चल कर कहा गया है प्रेम से देवी जी को पूजने से ईप्सित फल की प्राप्ति होती है, दरिद्र को धन मिलता है, रोगी स्वस्थ होता है; अपूत को सुपूत मिलता है, विद्यार्थी विद्या प्राप्त करता है ...इत्यादि[3]।

मुख्यतः सुजनहारिणी होने के ख्याल से दुर्गा जी की अर्चा की जाती है। इसका प्रयोगात्मक रूप है जहाँ केवल घट की पूजा होती है, या मूर्ति के सामने जो घट रखा जाता है, उसके चारों ओर मिट्टी का मोटा बेढ़ दिया जाता है। इसमें जौ और गेहूँ का बीज बोया जाता है। दो-तीन दिनों में इससे अंकुर निकल आते हैं[4]। मध्य भारत, राजस्थान, गुजरात प्रभृति प्रान्तों में विजयादशमी के दिन ऐसे घटों का विसर्जन किया जाता है। पुनश्च सृष्टि रहस्य का स्मरण दिलाने के अभिप्राय से उसी दिन पुरोहित अपने यजमान के घर जाकर जौ के हरे पौधे बाटते हैं।

[1] ३।२६।३-६; [2] ३।२७।४६-५२; [3] ५।३४।१७-२१;

[4] नारद पुराण, १।११०।३२; निर्णय सिन्धु, पृष्ठ १२०;

पूजा की सार्वजनिकता

नवरात्रि व्रत की विशेषता इसमें है कि यह सार्वजनीय है— अर्थात् सभी देश, तथा सभी वर्ण और जाति के स्त्री-पुरुष इसमें बिना किसी प्रतिबंध के इस व्रत का पालन कर सकते हैं। किन्तु ऐसा मालूम होता है कि पूजते समय भिन्न-भिन्न वर्ण तथा म्लेच्छ जाति के भक्तों के लिये अलग-अलग मंत्रों के उपयोग करने की विधि थी[1]। इस विधान को स्पष्ट करते हुए कमलाकर भट्ट कहते हैं-—इस प्रकार भिन्न-भिन्न जाति के म्लेच्छों के अतिरिक्त दस्यु जाति के मनुष्य भी देवी जी की पूजा चढ़ावें। इनमें से किरातों के लिये कहा गया है कि उनको पूजा मंत्र-हीन या तामसी होवे[2]। तामसी पूजा की व्याख्या करते हुए रघुनन्दन कहते हैं—ऐसी पूजा के प्रसंग में सुरा और मांस का उपहार दिया जाता है, जप और यज्ञ नहीं होते और न मंत्र पाठ ही किया जाता है[3]।

नवरात्रि का व्रत सार्वजनिक होने का कारण यही प्रतीत होता है कि शक्ति-पूजा के कुछ-कुछ विधि-विधान जाति-भेद की प्रथा के चल निकलने के पहले ही बन चुके थे। शक्ति-पूजा की विधि महिंजोदड़ो और हड़प्पा जैसी प्राचीन है। इसके विपरीत जाति-भेद की प्रथा उत्तर वैदिककाल में चालू हुई। पुनश्च उत्तरकाल में तान्त्रिक मत के प्रचार ने शक्ति पूजा से संबद्ध विषयों में जाति-विचार की भावनाओं को और भी शिथिल बना दिया।

पूजा-काल

मार्कण्डेय पुराण में देवी जी को शरत् काल में पूजने का स्पष्ट उल्लेख हैं[4]। भागवत पुराण में कहा गया है कि नन्द व्रजकुमारियों ने कालिन्दी के तट पर देवी की मूर्ति बना कर 'हेमन्ते प्रथमे मासि' या अगहन में पूजा की थी[5]। नारद पुराण में क्वार के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से नवरात्रि के व्रत का पालन करने को कहा गया है[6]। देवी भागवत का सुझाव है कि शरत् और वसन्त दोनों ऋतु में देवी को पूजना चाहिये[7]। आगे चल कर कहा गया है कि

---

[1] हेमाद्रि, २।६१०; [2] निर्णय सिंधु, ११६; [3] दुर्गा पूजातत्त्व, २०;
[4] ६।१।१; [5] १०।२२।१-५; [6] १।११०।२०; [7] ३।२६।२-४;

नारद के सुझाव देने पर श्रीरामचन्द्र ने क्वार में नवरात्र व्रत का पालन किया था[१]। बृहद्धर्म पुराण के अनुसार हनुमान् के पूछने पर लंका की अधिष्ठात् देवी चण्डिका ने कहा था मेरा पूजा-काल सावन और पूस है; किन्तु काम पड़ने पर अकाल में भी मैं जगायी जाती हूँ[२]। इसी प्रसंग में आगे चल कर कहा गया है कि ब्रह्मा जी ने देवी को अनुपयुक्त समय में बोधित किया था तथा तीन लोक के निवासियों की ओर से क्वार की नवमी को पूजने की आज्ञा मांग ली[३]। कालिका पुराण में देवी के अकाल-बोधन का उल्लेख हुआ है[४]। पुनश्च चैत में भी देवी का पूजन करने कहा गया है[५]। उक्त पुराण का कथन है कि दक्ष प्रजापति से अप्रसन्न हो जब देवी ने शरीर छोड़ा, तब महामाया, जगद्धात्री या मोहिनी को मनाने की अभिलाषा से मेनका देवी ने निरन्तर २७ वर्ष तक कठिन तप किया था और इसी प्रसंग में उसने गंगा नदी के किनारे देवी जी की मूर्ति बना कर चैत में २७ दिन तक उनकी अर्चा की थी[६]। इससे प्रसन्न हो देवी ने मेनका की पुत्री बनना स्वीकार किया। तदनुसार बाद में उन्होंने 'काली' बन कर जन्म लिया।

जसहर-चरिउ नाम के एक जैन काव्य का कथन है कि चैत में जब देवी कात्यायनी की पूजा चढ़ाई जाती है, तब चरु ग्राम या भात का भोग चढ़ाने की रीति है।

रघुनन्दन और शूलपाणि नाम के दोनों निबंधकार वाचस्पति मिश्र के कृत्य-चिन्तामणि का हवाला देकर ब्रह्म वैवर्त्त पुराण से वचन उद्धृत करते हुए कहते हैं कि चैत की शुक्लाष्टमी और नवमी को पहले-पहल सुरथ राजा ने देवी जी की अर्चा की थी; फिर रावण का वध करने के लिये रामचन्द्र जी ने पूजन किया; इसके बाद तीनों लोक के देवता, मुनि और मानव देवी को पूजने लगे[७]। किन्तु छपी हुई पुस्तक में यह वचन नहीं मिलता।

निर्णय सिन्धु में कमलाकर भट्ट ने मध्याचार्य और हेमाद्रि का हवाला देते

[१] ३।३०।४१-४२; [२] २०।४३-४४; [३] २२।१४-१७; [४] ६२।२४.....; [५] ६१।२१ ३०; २१७; [६] दुर्गा पूजा तत्व, २३; [७] पृष्ठ ११६; १२६;

हुए क्वार की शुक्लाष्टमी और नवमी को पूजने को कहा है[१]। बृहद्धर्म पुराण में सुझाव दिया गया है कि १५ दिन तक देवी का पूजा-महोत्सव चालू रहे। इनमें १३ दिन तक बेल की डाल पर स्थित देवी की पूजा की जाय, सप्तमी को (मूर्ति) घर लायी जाय, फिर अष्टमी और नवमी को विधानानुसार पूजा चढ़ायी जाय[२]।

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि साल भर में चार बार देवी जी की पूजा होती है। इनमें क्वार और चैत में जो पूजा चढ़ायी जाती है उसका प्रसार व्यापक है। सावन में भी बनारस और विन्ध्याचल में दुर्गा जी का मेला लगता है। तथा अक्षया नवमी को कहीं-कहीं देवी की पूजा की जाती है।

उपर्युक्त विषय के विचार प्रसंग में कुछ अधिकारियों ने देवी जी के जन्म दिन पर प्रकाश डाला है। कालिका पुराण का कथन है कि वसन्तकाल में ऋक्ष संयुक्ता नवमी तिथि की मध्य में देवी का जन्म हुआ था[3]। फिर ब्रह्म पुराण की एक उक्ति पर निर्भर हो कमलाकर भट्ट कहते हैं कि क्वार की पूर्वाषाढ़ संयुक्ता शुक्लाष्टमी की मध्य रात को देवी भवानी का जन्म हुआ था[४]। संभवतः इसीलिये क्वार और चैत की पूजा का इतना माहात्म्य माना जाता है।

मूर्ति

यद्यपि मार्कण्डेय प्रमुख पुराणों में सुरथ राजा, रामचन्द्र, मेनका प्रभृति के विषय में कहा गया है कि उन्होंने मूर्ति बना कर देवी जी की अर्चा की थी; किन्तु ये मूर्तियाँ किस प्रकार की थीं, उसका विशद् विवरण कहीं नहीं मिलता। हर्ष की बात है कुछ निबंधकारों ने इस विषय पर भी विचार किया है।

मत्स्य पुराण[५] और कालिका पुराण[६] में देवी की ध्यान मूर्ति का विशद् विवरण मिलता है। तदनुसार देवी कात्यायनी की दश-भुजा मूर्ति की कल्पना की गयी है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण[७] में सिंह-वाहिनी देवी की दश-भुजा मूर्ति की कल्पना की गयी है तथा उनके परिवार में शिव और शिवा के अतिरिक्त

---

[१] २।२६-२८; [२] ४१।४१-४२; [3] निर्णय सिंधु, पृष्ठ १२६; [४] २६०।५५-६६; [५] २६०।५५-६६; [६] ५६; [७] ३।२६।२३; ४।२०।१८६; २।६४।४-६;

लक्ष्मी, गणेश, दिनेश, अग्नि और विष्णु के होने का उल्लेख हुआ है। गरुड़ पुराण में अष्टादश-भुजा दुर्गा देवी की कल्पना की गयी है[१]। पुनश्च २८, १२, ८ और चार भुजा वाली देवी का भी उल्लेख हुआ है[२]। देवी भागवत में भगवती की चतुर्भुजा और अष्टादश-भुजा दोनों मूर्ति की कल्पना की गयी है। चार हाथ में क्रम से शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं तथा सिंह उनकी सवारी है[3]। कालिका पुराण में देवी की दश-भुजा और सिंह-वाहिनी मूर्ति की कल्पना की गयी है[४]। निर्णय सिन्धु में देवी मूर्ति का विशद् वर्णन हुआ है। इस प्रसंग में कहा गया है कि मूर्ति दशभुजा या चतुर्भुजा होवे; हाथों में शूल, चक्र, दंड, शक्ति, वज्र, धनुष, तलवार, घंटा, रुद्राक्ष की माला, करक (जल पात्र) और पान पात्र (कटोरा) होवे; देवी के सामने सर कटा भैंसा होवे और उसके तन से निकले हुए असुर ढाल और तलवार ले कर देवी के साथ लड़ता रहे, देवी का भाला उसके हृदय में प्रविष्ट हुआ हो तथा उसके मुंह से रक्त निकलता हो......सभी देवता जगन्माता को घेरे रहें .[५]। वर्ष-क्रिया कौमुदी का कहना है कि चतुर्भुजा और दशभुजा मूर्ति के अतिरिक्त षोड़श तथा अष्टादश भुजा मूर्तियाँ भी होती हैं[६] किन्तु ऐसी मूर्तियाँ कदाचित् देखने में आती हैं। प्रायशः सभी जगह चतुर्भुजा या दशभुजा मूर्ति का पूजन होता है।

पूजाविधान

दुर्गा देवी की पूजन-परिपाटी का नाम कल्प है। सात प्रकार के कल्प चालू हैं। इनमें से नवम्यादि कल्प की पूजा भादों की कृष्णा नवमी से महानवमी तक चलती रहती है। प्रतिपदादि कल्प-शुक्ला प्रतिपदा से महानवमी तक और षष्ठ्यादि कल्प चार दिन। इन तीनों कल्प की पूजा-घट स्थापित कर करने की विधि है। सप्तमी से दशमी तक मूर्ति की अर्चा करने की रीति है। सप्तम्यादि कल्प की पूजा सप्तमी से दशमी तक की जाती है। अष्टम्यादि कल्प के अनुसार

---

[१] १।२८।३-४; [२] १।३८।११; [3] ३।२६।१८-२०; [४] ६५।८;
[५] पृष्ठ १२६; [६] पृष्ठ २६६;

अष्टमी और नवमी को पूजा चढ़ा कर मूर्ति दशमी को विसर्जित की जाती है; किन्तु अष्टमी कल्प के अनुसार केवल एक ही दिन की पूजा होती है। नवमी कल्प में भी उसी प्रकार एक ही दिन की पूजा होती है।

बोधन

कमलाकर भट्ट ब्रह्म पुराण का हवाला देते हुए कहते हैं कि प्रति वर्ष अषाढ़ की शुक्ला एकादशी तिथि को भगवान् हरि शेष-शय्या पर सो जाते हैं[1]। उसी दिन से दक्षिणायन का आरंभ हो जाता है। इन दिनों कुल देवता सोते रहते हैं। शरत् काल दक्षिणायन के अन्तर्गत है। देवी जी भी तब सोती रहतीं हैं। अतः षष्ठी के संध्या समय एक बेल के पेड़ के निकट जा कर पूजा चढ़ा गाजे-बाजे द्वारा देवी को जागरित किया जाता है। इसी कृत्य का नाम बोधन है। दूसरे दिन दो फलवाले बेल का एक डंठल काट कर मूर्ति के पास रख पूजा चढ़ाई जाती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से बोधन का जो मंत्र है वह बड़ा ही विचित्र है। बृहद्धर्म पुराण का कहना है कि लंका में जब राम और रावण लड़ रहे थे, तब रावण का बल-वीर्य देख कर कुल देवता बहुत घबरा गये। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने रामचंद्र जी को विजय दिलाने के लिये देवी जी से प्रार्थना की। इस पर देवी कुमारी बन कर देवताओं के सामने आविर्भूत हुई, और दूसरे दिन बेल के पेड़ पर सोती हुई देवी जी को प्रबोधित करने को कहा। इस पर ब्रह्मा ने "रावण का बध और रामचन्द्र जी के प्रति कृपा प्रदर्शित करने के लिये कुसमय में देवी को जागरित किया।" उसी समय ब्रह्मा ने क्वार की शुक्ला नवमी से जब तक रावण का विनाश न हो तब तक देवी को पूजने की आज्ञा माँग ली। पश्चात् ब्रह्मा की देखा-देखी स्वर्ग और मर्त्य के कुल निवासी देवी जी को क्वार में पूजने लगे। उसी समय देवी ने भविष्यद्वाणी की थी कि "नवमी के तीसरे पहर रावण का विनाश होगा और दशमी को रामचन्द्र जी विजयोत्सव मनायेंगे"[2]।

---

[1] निर्णय सिंधु, पृष्ठ ७२; [2] २१।१९ — २२।२५;

तभी से नीचे लिखे हुए मंत्र का पाठ कर पुजारी बेल के डंठल पर सोती हुई देवी को प्रति वर्ष क्वार में जगाने लगे। मंत्र का भावार्थ इस प्रकार है—प्राचीन काल में रामचन्द्र के प्रति कृपा प्रदर्शित करने तथा रावण के वध के लिये ब्रह्मा ने देवी को कुसमय में जगाया था। आपका बिनकुल आज्ञाकारी सेवक मैं षष्ठी की संध्या में आपको जागरित करता हूँ।" फिर बेल के को संबोधित कर कहा जाता है—'लक्ष्मी देवी का वास-गृह, श्री-शैल पहाड़ की चोटी पर उत्पन्न श्री-फल (बेल), दुर्गा देवी की मूर्ति को पूजने के अभिप्राय से आपको ले जाना है; अतः आइये'[1]। इसके बाद उसी पेड़ पर स्थित देवी का अधिवास, या 'मही-गंध-शिला-धान्य-दुर्वा-पुष्प-फल-दधि' इत्यादि द्रव्यों से देवी का रक्षा-विधान किया जाता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से मंत्रोक्त 'रावणस्य वधार्थाय रामस्यानुग्रहाय च' भारी उलझन खड़ी कर देता है। सभी को मालूम है कि वाल्मीकि के रामायण के जो तीन पाठ-भेद हैं—अर्थात् बंबई, बंगाल और कश्मीर—उन तीनों में कहीं भी इस विषय की चर्चा नहीं की गयी है। बंबई और बंगाल-धृत पाठों में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि अगस्त्य ऋषि के सुझाव देने पर रामचन्द्र जी ने आदित्य-हृदय मंत्र का जप कर रावण को मार गिराया। कश्मीर-धृत पाठ में इस मंत्र तक का भी उल्लेख नहीं किया गया है। हेमाद्रि के चतुर्वर्ग चिंतामणि (१३वीं शती , और वर्ष-क्रिया कौमुदी (१५वीं शती) दोनों ने लिंग पुराण से इस वचन को उद्धृत किया है। परन्तु लिंग पुराण के छपे हुए संस्करणों में ये श्लोक नहीं मिलते। उसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में यद्यपि 'बोधन' शब्द का उपयोग हुआ है[2]। परन्तु उसके मंत्र नहीं मिलते।

अवश्य ये श्लोक देवी भागवत, कालिका पुराण, बृहद्धर्म पुराण जैसे उप-पुराणों में मिलते हैं। और मिलते हैं उत्तर काल में रचित निबंधों में। इसके विपरीत यह स्पष्ट है कि

(अ) सैकड़ों वर्ष से, भले ही हजारों न कहा जाय—बंगाल, असम,

---

[1] निर्णय सिंधु, पृष्ठ १२६; [2] ३।६२।२; ३ इत्यादि;

मिथिला, महाराष्ट्र, कर्नाटक जैसे दूर-दूर के प्रान्तों के पुरोहित इन्हीं मंत्रों को दोहराते हुए प्रतिवर्ष क्वार की शुक्ला छट को नियत समय पर जगन्माता को प्रबोधित करते आये हैं और भविष्य में भी करते रहेंगे;

(आ) नारद पुराण में विजया दशमी को सीता समेत रामचन्द्र आदि को पूजने का सुझाव दिया गया है, इससे देवी जी के साथ श्री रामचन्द्र का प्रत्यक्ष संबन्ध स्थापित होता है;

(इ) जिन प्रान्तों में देवी जी का पूजन नहीं किया जाता, वहाँ भी नवमी या दशमी के दिन समारोह के साथ रावण वध का अभिनय किया जाता है।

(ई) सर्वोपरि रामलीला के प्रसंग में जो जलूस निकाला जाता है, उसमें अनेक काली की मूर्तियाँ लड़ती हुई जाते देखी जाती हैं।

इस प्रकार, उपर्युक्त परोक्ष प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि बाल्मीकि ने इस घटना का उल्लेख नहीं किया, अतीव प्राचीन काल से देश के कोने-कोने के लोगों के मन में ऐसा विश्वास जमा हुआ था कि रामचन्द्र जी ने देवी की सहायता से ही रावण का बध किया था। इस विषय को साहित्यिक-मान्यता देने का श्रेय, हेमाद्रि और गोविंदानन्द के अनुसार लिंग पुराण को है।

यह भी संभव है कि इस मामले में तांत्रिकों का बड़ा भारी हाथ रहा हो। राम जैसे लोक-प्रिय शासक को देवी जी का उपासक बना कर उन्होंने अपनी इष्ट देवी की महानता की अभिवृद्धि की हो। अंत में यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि हमारे इतिहास-पुराण प्रमुख ग्रंथों में साधारणतया देखा जाता है कि पुरुष, भले ही वह विष्णु, राम या शिव क्यों न हो, सदा-सर्वदा शक्ति की उपासना करते हैं। परन्तु शक्ति कदापि शिव की आराधना नहीं करती। इस प्रसंग में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का कहना है कि सृष्टि की आदि काल में मधु और कैटभ नाम के दैत्यों से लड़ते समय विष्णु भगवान् ने देवी जी से प्रार्थना की थी; त्रिपुरासुर से लड़ते समय शिव जी ने देवी से प्रार्थना की थी; पुनश्च वेत्रासुर से युद्ध छिड़ने पर इन्द्र प्रमुख देवताओं ने देवी की बड़ाई की थी[1]।

---

[1] २।६६।२-६।

षष्ठी के संध्या समय देवी को जागरित करने के अनन्तर सप्तमी के दिन प्रातःकाल दो फल वाले बेल के उस डंठल को काट कर मूर्ति की बगल में रखा जाता है और नव-पत्रिका का पूजन किया जाता है। केला, हरदी, बेल, धान प्रमुख पौधों के डंठलो को अपराजिता लता से बाँध कर मूर्ति के पास रखा जाता है। सप्तमी को पहले पहल इसी की अर्चा की जाती है। पश्चात् मूर्ति का पूजन होता है। अष्टमी को दो बार पूजा होती है। एक बार तो यथा रीति प्रातःकाल; पुनः रात को जब अष्टमी व्यतीत होकर नवमी लगती है। इसका नाम संधि पूजा है। ब्रह्म पुराण का हवाला देते हुए हेमाद्रि कहते हैं कि क्वार की इसी अष्टमी को करोड़ों योगिनियों के साथ देवी भद्रकाली ने दक्ष-यज्ञ-के विघटन करने के लिये जन्म लिया था। अतः मानव मात्र को इस दिन देवी को पूजना चाहिये[१]। बहुत से लोग इस दिन व्रती रहती हैं। कहीं-कहीं प्रतिपदा से अष्टमी तक लोहाभिसारिक कर्म मनाया जाता था[२], तदनुसार शस्त्रास्त्र के अतिरिक्त राज-चिह्नों का पूजन होता था।

नवमी को देवी जी की कृपा से रामचन्द्र जी ने रावण का बध किया था। अतः लिंग पुराण का कथन है कि ब्रह्मा ने इस दिन देवी जी की विशेष पूजा की थी[3]। इस दिन पशु-बलि चढ़ाया जाता है तथा रात जागने की भी विधि है। इसके अतिरिक्त अष्टमी और नवमी को देवी जी की मूर्त्त प्रतीक कुमारी कन्याओं को पूजने की रीति है।

मध्यकाल में देवराष्ट्र में नवमी के तीसरे पहर रथ पर देवी की मूर्ति रख कर समारोह के साथ सवारी निकाली जाती थी। शासक, सैनिक पुरुष, राज-कर्मचारी प्रभृति सभी कोई इस जलूस में सम्मिलित होते थे। इस जन-यात्रा में बाजे-बाजे के अतिरिक्त नृत्य-गीत तथा तमाशा प्रभृति दिखाने का प्रबंध रहता

---

[१] चतुर्वर्ग चिन्तामणि; २।९०७; [२] चतुर्वर्ग चिन्तामणि २।९१०...;

[३] वर्ष-क्रिया-कौमुदी; पृष्ठ ३६८;

था। सेना दल नंगी तलवार लेकर चलते थे[1]। ब्रह्मपुराण का हवाला देते हुए रूप नारायण सुझाव देते हैं कि उसी दिन देवी के मँड़वे में शस्त्र-पूजन किया जाय[2]।

विजया दशमी

कालिका पुराण का कथन है कि महा-नवमी को रावण-बध हुआ। कृतज्ञता प्रकट करने के लिये देवताओं ने उस दिन देवी जी की सेवा में विशेष पूजा चढ़ायी थी। तदनन्तर दशमी के दिन उन्होंने देवी को प्रस्थित किया[3]।

साधारणतः जिस समय देवी की प्रतिमा पानी में बहायी जाती है उसी के नामानुसार उस दिन का नाम विजया दशमी पड़ा है। नारद पुराण का बचन उद्धृत करते हुए निर्णय सिन्धु कहता है—संध्या काल थोड़ा अवतीर्ण हो जाने पर जब तारकाएँ थोड़ी-बहुत दीखने लगती हैं, उसी समय का नाम विजया है; इस समय जो भी काम हाथ में लिया जाय, उसमें सफलता मिलती है[4]।

सभी जगह इस दिन बल-नीराजन उत्सव मनाया जाता था जब राज्य के प्रधान सेना-दल का निरीक्षण कर सैनिकों को अभिनन्दित करते थे। कालिका पुराण का कथन है कि देवी को प्रस्थित करने के बाद स्वर्ग-राज्य में शान्ति बनाये रखने तथा उसके विकास के लिये इन्द्र ने इस दिन देव-सेना का नीराजन (या संवर्धना) किया था[5]। संभवतः उपर्युक्त रीति-नीतियों के आधार पर प्राचीनकाल में जैत्र-यात्रा के प्रसंग में सेना समेत घर से रवाना होने की प्रथा चल निकली थी।

शाबरोत्सव

रावण-बध की खुशियाली में प्राचीन काल में जो लोकोत्सव मनाया जाता था, उसका नाम शाबरोत्सव है[6]। इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए शूलपाणि कहते हैं—शबर वर्ण के ऐसा पत्तियाँ पहन और कीचड़ आदि पोत कर अंड-बंड बकना और अश्लील भावापन्न नृत्य-गीत करने का नाम शाबरोत्सव है[7]।

---

[1] चतु० चिन्ता० २।६१८; [2] निर्णय सिन्धु. पृष्ठ १२६; [3] ६१।२१; [4] पृष्ठ १२६; [5] ६२।३२; [6] कालिका पुराण, ६१ १७; [7] दुर्गोत्सव विवेक; पृष्ठ २२;

वर्ष-क्रिया-कौमुदी में इस उत्सव का एक सजीव चित्र अंकित कियागया है। "तुरही और शंख फूंकते, ढोल और नकाड़े बजाते, धूल और कीचड़ उछालते, हँसी-मजाक करते, सृष्टि-तत्त्व संबन्धी (अश्लील) नारे लगाते, गन्दी गीतें गाते तथा कुत्सित हाव-भाव बताते हुए यह त्योहार मनाया जाय। यदि कोई औरों पर कीचड़ न उछाला और दूसरों ने उस पर कीचड़ न उछाला, तो देवी जी असंतुष्ट होकर उसे अभिशाप देती हैं[१]।" बृहद्धर्म पुराण ने इन करतूतों के साथ-साथ ब्रह्मभोज तथा घर की स्त्रियों को प्रसन्न करने का भी सुझाव दिया है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि उस दिन लेने-देने का कुल काम बंद रख कर लोग छुट्टी मनावें[२]। निर्णय सिन्धु में भी शाबरोत्सव मनाते हुए देवी जी की मूर्ति को पानी में बहाने का सुझाव दिया गया[3]। इस प्रसंग में कहा गया है कि हँसी-मजाक और नाज-नखरे करते तथा धूल-कीचड़ उछालते हुए यह उत्सव मनाया जाय, जैसा कि कालिका पुराण में कहा गया है[४]। इन उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि विजयादशमी के दिन मध्यकाल में बंगाल, असम, मिथिला, महाराष्ट्र, कर्नाटक प्रभृति प्रान्तों की जनता आनन्द में निमग्न होकर छुट्टी मनाती थी।

दक्षिण में नव-रात्रि

नव-रात्रि के व्रत का जो विवरण ऊपर दिया गया है, वह मुख्यतः पूर्वी प्रान्तों तथा महाराष्ट्र में जिस ढंग से वह उत्सव मनाया जाता था, उसी का है। अब संक्षेप में जिस रीति से मद्रास प्रान्त में इस व्रत का पालन किया जाता है उसका वर्णन हो रहा है।

निरन्तर सुख और ऐश्वर्य भोगने की अभिलाषा से विश्व-संसार के शक्ति की सार-भूता देवी की आराधना लोग पुरत्तसी (क्वार) महीने के नव-रात्रि के दिनों में करते हैं। इन दिनों वे अधिकतर दुर्गा या काली, लक्ष्मी और देवी सरस्वती जी की अर्चा करते हैं। इनमें दुर्गा की मूर्ति साधारणतः दशभुजा

---

[१] पृष्ठ २७७; रघुनन्दन, पृष्ठ ७; [२] २२।३०... ..
[3] पृष्ठ १२४; [४] पृष्ठ १२३;

तथा महिषासुर-मर्दिनी की होती है। लोगों का यह भी विश्वास है कि देवी जी की सहायता से ही रामचन्द्र ने रावण का बध किया था। देहाती क्षेत्रों में घर-घर में देवी जी की मूर्ति के साथ और और मूर्तियाँ पधरायी जाती हैं। रात को पूजा चढ़ाने के बाद प्रसाद बाँटा जाता है। इस प्रसंग में अनेकानेक पशु-बलि चढ़ाये जाते हैं। इन दिनों कुमारी कन्याओं को केसर, चन्दन, खान-पान की सामग्री देकर पूजने की रीति है। उच्चवर्ण के लोग आजकल अधिकतर लक्ष्मी और सरस्वती के अतिरिक्त देवी की शान्त मूर्ति गौरी और भवानी को पूजने लगे हैं। नवमी और दशमी को सरस्वती देवी का पूजन किया जाता है। प्राचीन काल की जैन-यात्रा के स्मारक स्वरूप कहीं-कहीं जलूस निकाला जाता है। काञ्ची, मदुरा, मैलापुर (मद्रास) प्रमुख कुछ स्थानों में समारोह के साथ नव-रात्रि का उत्सव मनाया जाता है।

मद्रास अहाते के किसी-किसी क्षेत्र में नव-रात्रि की सप्तम, अष्टमी और दशमी को आयुध-पूजा की जाती है। इस प्रसंग में उच्च वर्ण के लोग श्राद्ध, तर्पण प्रभृति करते हैं। ब्राह्मण लोग सरस्वती जी की अर्चा करते हैं तथा कारीगर अपने औजारों को पूजते हैं। आश्विन के अतिरिक्त सावन में भी मंगल-गौरी व्रत के प्रसंग में गौरी देवी की मूर्ति पूजने की रीति है। मैसूर प्रान्त के नव-रात्रि का उत्सव तथा दशहरे का जलूस विश्व-विख्यात है[१]।

विन्ध्यवासिनी

नवरात्रि के दिनों विन्ध्याचल में भारी मेला लगता है। दूर-दूर से हजारों यात्री आते हैं और देवी जी का दर्शन कर अपने को धन्य मानते हैं। विन्ध्य देवी की प्राचीनता भी बहुत है। वैदिक साहित्य में विन्ध्य देवी का उल्लेख न होने पर भी महाभारत के समय तक देवी की ख्याति चारों ओर फैल गयी थी। महाभारत में विराट् नगर को जाते समय युधिष्ठिर ने जो दुर्गा-स्तोत्र का पाठ किया था, उसी प्रसंग में उन्होंने कहा था—चिरकाल से

---

[१] जगदीश अय्यार-साउथ इण्डियन् फेस्टिभिटीज़; पृष्ठ १२९......;

नग-श्रेष्ठ विन्ध्य पर्वत पर आपका निवास स्थान है[१]। उक्त स्तोत्र में दुर्गा देवी की बड़ाई करते हुए व्यास जी कहते हैं —नंद गोप के घर में आपका जन्म हुआ; यशोदा के गर्भ से आप उत्पन्न हुईं; वासुदेव की प्यारी भगिनी, पुनः जब कंस ने आपको पत्थर पर पछाड़ कर मार डालना चाहा, तब आप महाशून्य की ओर चली गयीं[२]। यहाँ पर स्मरणीय बात यह है कि ये सब विशेषण देवी योगमाया के प्रति लागू हैं[३]। इस प्रकार महाभारत में ही सर्व प्रथम विन्ध्य देवी के साथ दुर्गा देवी की एकात्मता स्थापित करने की चेष्टा की गयी है। पुनश्च हरिवंश में देवी कौशिकी के बारे में कहा गया है कि शबर, बर्बर और पुलिन्द प्रमुख जंगली समुदाय के लोग आपका पूजन करते हैं[४]। फिर बाणासुर ने जब अनिरुद्ध को बन्दी कर लिया, तब उसने देवी जी को प्रसन्न करने के अभिप्राय से आर्यास्तव का पाठ किया था। उक्त स्तव में देवी जी के संपर्क में कहा गया है वे विंध्य-कैलास-वासिनी[५], चोरसेना-नमस्कृता[६], किराती[७] हैं।

स्कन्द पुराण का कहना है कि दुर्गासुर से लड़ते समय देवी जी ने विंध्याचल को अपना मुख्यवास बनाया था! उनकी प्रेषित दूती देवी कालरात्रि वहाँ जाकर दुर्गासुर के पहुँचने की सूचना दी थी[८]। शिव पुराण का कथन है कि शिव जी ने एक दिन देवी को हँसी-हँसी में 'काली' कह कर संबोधित किया। इस पर रूठ कर देवी ने 'गौरी' बनने की अभिलाषा से कठोर तपस्या की। ब्रह्मा के वर देने से तत्क्षण देवी के शरीर पर से चमड़े की जो केंचुली (कोश) थी वह अलग हो गयी। आगे चल कर उसी साँवली देवी का नाम कौशिकी पड़ा। उस के आठ हाथ थे। उसी ने शुम्भ और निशुम्भ का बध किया था। देवी कौशिकी के उत्पन्न होते ही ब्रह्मा ने उनको विंध्याचल पर टिकाया, और मदिरा, मत्स्य और मांस द्वारा देवी की अर्चा की[९]।

---

[१] ४।६।१७; [२] ४।६।१-४; [३] हरिवंश; २।२।३७-४६; भागवत पुराण, १०।२।६……; [४] २।३।७; [५] २।१२०।१७; [६] २।१२०।१६; [७] २।१२०।१६; [८] काशी खंड, ७१।६१; [९] ५४अ ।२१।३१०...; देवी भागवत, ५।२३।२; वामन पुराण, ५४ ६ ; पद्म पुराण, सृष्टि खंड, ४४।६४;

भविष्य पुराण का हवाला देते हुए हेमाद्रि ने विन्ध्याचल में नवरात्रि के व्रत का पालन करने का सुझाव दिया है। इन दिनों व्रती या तो उपवास करे या रात में एक ही बार भोजन करे[1]। पुराणों के अतिरिक्त रस-साहित्य के अन्तर्गत कई पुस्तकों में विन्ध्य देवी का उल्लेख हुआ है। राज्यश्री की खोज में जब हर्ष वर्धन विंध्य पर्वत के आस-पास भटकता फिरता था, तब उसे वहाँ के वनचरों के पूजने के स्थान, बहुत से 'चामुँडा मंडपों' के दर्शन हुए[2]। तमिल काव्य 'मणिमेखलाय' में विंध्यवासिनी का उल्लेख हुआ है[3]। गौड़वहो काव्य में वाक्पति राज ने विंध्य देवी के मंदिर में नर बलि चढ़ाने की प्रथा का उल्लेख किया है[4]।

ज़ैन कवि हरिषेण ने 'बृहत् कथा कोश' में विंध्य देवी की उत्पत्ति के बारे में एक अजीब गाथा गायी है। संक्षेप में अब उसी का वर्णन यहाँ हो रहा है। गोकुल में किसी मातृका मंदिर में यशोदा और वसुदेव ने नवजात बच्चों का अदल-बदल किया था। तभी से यशोदा बाल श्रीकृष्णचन्द्र का पालन-पोषण करती रही; उधर देवकी कंस के डर के मारे बच्ची की नाक दबा कर उसका भरण-पोषण करती गयीं। सयानी हो जाने पर वह कन्या राज-भवन से निकल पड़ी और उसने जैनमत को अपनाया। कालान्तर में एक बड़ी भीड़ के साथ घूमते-फिरते वह विंध्यगिरि के पास पहुँच गयी। इसी समय कुछ डरावने भीलों के एक झुंड को आ निकलते देख उस लड़की को अकेली छोड़ कर उसके संगी-साथी तीन-तेरह होकर भाग निकले। ऐसी परिस्थिति में वह यौगिक प्रक्रिया द्वारा दम बंद कर वहीं आसन लगा कर स्थिर बैठ गयी। भीलों ने उसे देवी मान कर प्रणाम किया और मोटे असामी के मिलने पर समारोह के साथ देवी जी को पूजने की मनौती की। भाग्यवश उस दिन व्यापारियों के एक जत्थे को लूट कर उन्होंने बहुत-सा माल-टाल प्राप्त किया था। लौटने पर भीलों ने देखा कि एक सिंह ने देवी को मार कर खा लिया है, तब उन्होंने देवी की तीन अंगुलियाँ वेदी पर रख कर नृत्य-गीत के साथ उनका पूजन किया।

---

[1] चतुर्वर्ग चिंतामणि; २।६१०; [2] हर्ष चरित, ६।२२६;
[3] २१।१६२; [4] ३१८;

इस प्रकार दुर्गम विंध्यगिरि पर भक्त्या लुटेरों तथा झुकी हुई डालों पर लगे हुए फूलों के गुच्छों से पूजे जाने के कारण उस देवी का नाम दुर्गा या विंध्यवासिनी पड़ा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कहानी का अधिकतर भाग मन-गढ़न्त होने पर भी मार्के की बात यह निकलती है कि अज्ञात काल से दुर्गम विंध्याचल पर भील प्रमुख जंगली जातियाँ अपने ढंग से देवी की अर्चा करते थे[१]।

ऊपर के उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि विंध्यवासिनी देवी की उत्पत्ति के विषय में दो प्रकार की दन्तकथाएँ प्रचलित हैं—

(१) प्रारम्भिक दशा में देवी ने यशोदा के गर्भ में जन्म लिया था; वसुदेव वहाँ से बच्ची को कंस के कारागृह में ले आये। कंस ने जब उस बच्ची को पत्थर पर पटक कर मारना चाहा, तब वह महाशून्य में गुम हो गयी; पुराणों में उसी का नाम देवी योगमाया पड़ा है।

(२) देवी भगवती के कोश से उत्पन्न होने के कारण विंध्यवासिनी का नाम कौशिकी पड़ा।

उक्त देवी अज्ञातकाल से विंध्याचल पहाड़ पर रहती थीं। वहाँ शबर, पुलिन्द, भील प्रमुख जंगली समुदाएं अपने ढंग से सुरा, गोश्त प्रभृति चढ़ा कर देवी की तामसिक पूजा करते थे। इस प्रकार की पूजा में न मंत्रों का पाठ होता था, और न जप-होम ही होता था। महाभारत में ही देवी को साहित्यिक मान्यता दी गयी। ऐसी दशा में यही निष्कर्ष निकलता है कि विंध्यवासिनी देवी प्रारंभ में कुछ अनार्य जातियों की अधिष्ठात् देवी रही होंगी, जिन्हें महाभारत काल में सनातन धर्म ने अपनाया था।

काली देवी

विंध्य देवी जैसी काली जी की उत्पत्ति के बारे में सभी पुराणकार सहमत नहीं हैं। इस विषय में मुख्यतः तीन सिद्धान्त हैं जो एक दूसरे से बिलकुल नहीं मिलते।

---

[१] पृष्ठ २७४;

(अ) मार्कण्डेय पुराण का कथन है कि जब शुम्भ की आज्ञा से उसके सेनाध्यक्ष चण्ड और मुण्ड देवी को बलात् पकड़ने के लिए सेना समेत आगे बढ़े, तब देवी अंबिका उनसे बहुत बिगड़ गयी। क्रोध की अधिकता के कारण उनके चेहरे पर स्याही फिर गयी। इस समय देवी की चढ़ी हुई भौंहें से कराल-वदना काली की उत्पत्ति हुई। उनके हाथों में नाना प्रकार के शस्त्रास्त्र थे, गले से नर-मुण्ड की माला लटकती थी; वह बाघाम्बर पहनी हुई थीं। उनके शरीर का मांस सूखा हुआ था। वह अतीव डरावनी मालूम पड़ती थीं। उनका मुख मंडल बड़ा विस्तृत था जिसमें जीभ हिलती थी। उनकी आँखें लाल थीं और उनकी गरज से दिशाएं गूँज रही थीं। वह आंधी के समान तेजी से दैत्य-सेना के बीच अचानक टूट पड़ीं और मुख्य मुख्य असुरों को मार कर सैनिकों को लीलने लगी[1]।

इसके विपरीत ब्रह्म पुराण का कहना है कि जब दक्ष प्रजापति ने जान-बूझ कर शिव भगवान् का निरादर किया, तब सती देवी की क्रोधाग्नि से देवी भद्रकाली की उत्पत्ति हुई थी। दक्ष महाराज का यज्ञ भङ्ग करने के लिए वह भी वीरभद्र के साथ हो ली[2]।

(१) ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के अनुसार काली और भद्रकाली में कोई अन्तर नहीं[3]।

(२) परिस्थिति में विभिन्नता रहते हुए भी दोनों पुराण की सम्मति है कि देवी जी की धधकती हुई क्रोधाग्नि से काली या भद्रकाली की उत्पत्ति हुई थी।

(आ) उधर लिंग पुराण का कहना है कि ब्रह्मा प्रमुख देवताओं के अनुरोध करने पर शिवजी ने अपने गले के विष से 'स्त्री-वध्य' दारुक नाम के असुर का वध करने के लिए काली देवी की सृष्टि की। दारुक का वध होने पर देवी का क्रोध शान्त करने के अभिप्राय से शिव जी बच्चे का रूप अपनाकर उस महाश्मशान में फूट-फूट कर रोने लगे। उस अनाथ बालक को देख कर देवी

---

[1] ८७।५;   [2] ३३।७२;   [3] २।२६।२६-२७;

का हृदय पसीज गया; तब वह उसे गोद में ले कर दूध पिलाने लगीं। इसी समय शिव जी दूध के साथ देवी के हृदय के क्रोध को भी पी गये[१]।

(३) पुनश्च कालिका पुराण का कथन है कि मैना की तपश्चर्या से संतुष्ट हो महामाया ने उसकी कोख से काली बन कर जन्म लिया। आगे चल कर शिव भगवान् के हँसी उड़ाने से विकट तपस्या कर वह गौरी बनी[२]।

इस प्रकार काली के जन्म के बारे में मत-भेद रहने के अतिरिक्त संहिता या ब्राह्मण ग्रंथों में कहीं भी काली या भद्रकाली का नाम आया नहीं। समग्र वैदिक साहित्य में केवल वास्तु याग के प्रसंग में सांख्यायन गृह्य सूत्र में एक ही बार भद्रकाली का नाम आया है। वह प्रसंग इस प्रकार का है कि खाट के ऊपर का भाग जहाँ सिर रखा जाता है वह तो श्री देवी के हवाले कर दिया जाता था तथा नीचला भाग जहाँ पैर रखा जाता है वह भद्रकाली के जिम्मे कर दिया जाता था[३]। मण्डुकोपनिषद् में धधकती हुई होमाग्नि की सात लपटों के नाम काली, कराली, मनोजवा प्रभृति दिये गये हैं[४]। मनु भगवान् ने इन्द्र प्रमुख देवताओं के नाम प्रतिदिन बलि या नैवेद्य चढ़ाने का सुझाव दिया है। इसी प्रसंग में उन्होंने कहा है कि वास्तु पुरुष के सिर की ओर (पूर्वोत्तर कोने) श्री देवी को भोग चढ़ाना चाहिये और दक्षिण-पश्चिम के कोने में जो वास्तु पुरुष का पैर माना गया है, भद्रकाली को उपहार चढ़ाया जाय[५]। औशनस स्मृति में सुझाव दिया गया है कि भद्रकाली को पूजने का भार पारशव (ब्राह्मण की शुद्राणी स्त्री का पुत्र) जाति के लोगों को सौंपा जाय[६]।

जातक ग्रन्थों में एक ही बार काली कालकण्णी का नाम आया है। वह कहानी इस प्रकार की है। एक बार विरुपाक्ष महाराज की पुत्री कालकण्णी के साथ सिरी देवी की कुछ कहा-सुनी हो गई। कारण यह बताया गया है कि दोनों अनोतत्त दह में दूसरे के नहाने के पहले स्नान करना चाहती थीं। इसी

---

[१] १०६।१-२३; [२] ४३।१-३१; वामन पुराण, ४१।४;४२।६...
[३] २।१४।१४; [४] १।२।४; [५] ३।८६; [६] ३६;

प्रसंग में कहा गया है कि देवी कालकरणी नीले वस्त्र-आभूषण का उपयोग करती थी। सिरी के साथ वाद्-विवाद करते समय वह कहती है कि मैं सारे संसार का चक्कर काटती हूँ। उसका एक नाम 'चरडी' भी है तथा वह 'अलक्खिका' मानी जाती है[1]। परन्तु इस विषय में बौद्ध में लेखकों ने काली और अलक्ष्मी दो अलग-अलग देवियों को एक साथ सान कर घपले बाजी की है। अतः उनके कथन की कोई महत्ता नहीं।

मालूम होता है कि कालकरणी भी कोई देवी रही होंगी। उनकी ध्यान-मूर्ति के बारे में हेमाद्रि कहते हैं कि वह सफेद साँड़ पर बैठी रहे, रुद्राक्ष की माला पहनी हुई और स्वभाव की भयंकरी हो तथा उसके गले के दोनों भाग जो कान के नीचे होते हैं—वे काले हों[2]। महाभारत में दुर्गा-स्तोत्र के प्रसंग में काली देवी[3] के भिन्न-भिन्न नाम, जैसे—कालिका[4], चरडी[5], महाकाली[6] कालरात्रि[7] इत्यादि मिलते हैं। इस प्रकार घुमा-फिरा कर दुर्गा देवी के साथ काली देवी की एकात्मा स्थापित करने की चेष्टा की गयी है। इन में से कदंब वंश के शासक (६ठी शती) देवी कालरात्रि का पूजन करते थे[8]।

पद्म पुराण के उत्तर खंड में बलि चढ़ाये जाते समय एक बकरा अपने पूर्व जन्म के अनुभवों का वर्णन करते हुए कहता है कि तब वह वेदज्ञ ब्राह्मण रह चुका था। अचानक उसके पुत्र के बीमार पड़ने पर घरवाली ने लड़के के स्वस्थ हो जाने पर चरिडका देवी के मन्दिर में बकरा चढ़ाने की मनौती की थी। अतः बच्चे के आराम हो जाने पर जब उसने बकरा चढ़ाया, तब उस पशु की माँ ने उसे अगले जन्म में बकरा बनने का अभिशाप दिया[9]।

भागवत पुराण का कथन है कि बलि चढ़ाने योग्य कोई पशु न मिलने के कारण संतति लाभ करने की अभिलाषा से एक वृषली-पति अंगिरस कुल

---

[1] ३।३८२।२९६; [2] चतु० चिन्ता०, २।६०; [3] १०।८।६५;
[4] २।११।४०; [5] ६।२३।५; [6] १२।२८३।३२; [7] १०।८।८०;
[8] इरिडयन एन्टिक्वारी, ६।२७; [9] १८२।११;

के जड़-भरत को चंडिका के आगे बलिदान देने पर उतारू हो गया। निदान देवी ने उसको बचा दिया[1]। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में कहा गया है कि जब परशुराम ने लड़कर बहुत से क्षत्रियों को यमराज के दरबार तक पहुँचा दिया था, तब उसे सुचन्द्र नाम के एक राजा का टक्कर लेना पड़ा। बहुत से शस्त्रास्त्र व्यर्थ जाने पर परशुराम ने भापा की देवी भद्रकाली स्वयं राजा की ओर से लड़ रही हैं। यह देखते ही परशुराम ने घुटने टेक स्तोत्र-पाठ कर देवी को मनाया। पश्चात् उनकी सहायता से उसने राज का बध किया[2]।

पुष्पदन्त के जसहर-चरिउ नाम के अपभ्रंश काव्य में यौधेय देश की राजधानी राजपुर की अधिष्ठात्री देवी 'चण्डमारी' का उल्लेख हुआ है[3]। वामन पुराण में कहा गया है कि चंड और मुंड के बध के उपरान्त देवी कौशिकी ने उनके कटे हुये सिरों का मुकुट पहना था। तभी से विंध्य देवी का नाम चामुण्डा पड़ा[4]। पुनः चण्डमारी की उत्पत्ति के विषय में उसी पुराण में कहा गया है कि जब देवी कौशिकी रुरु दैत्य के साथ लड़ रही थी, तब उसकी जटा से उसका जन्म हुआ था। वह गधे की सवारी करती है। देवी की आज्ञा से वह चंड और मुण्ड, दोनों को जीवित पकड़ लायी[5]।

भविष्य पुराण में कहा गया है कि प्राचीन काल में रघु के वंशज, पुरु प्रमुख शासक देवी महाकाली की अर्चा करते थे[6]। बृहद्धर्म पुराण का कथन है कि जब हनुमान् जी सीता देवी की खोज में लंका पहुँचे, तब उन्होंने चण्डिका देवी को उस राज्य की रखवाली करते पाया। हनुमान् के पूछने पर उन्होंने बताया—मैं चंड-रूपा, महाभुजा, हिमालय की कन्या हूँ; रावण की भक्ति से प्रसन्न होकर मैं उसके वश में हो गयी। लोग मुझे चंडिका, काली, पार्वती, प्रभृति कहते हैं[7]।

वर्प-क्रिया-कौमुदी में चण्डिका देवी को महामाया की आठ शक्तियों में

---

[1] ५।६।१२-१७; [2] ३।३६।१-४५; [3] १।६; [4] ५५।७६-८३;
[5] ५५।६५-७५; [6] प्रति सर्ग (१)।२।३८;६०; [7] २०।१४-२६;

से एक बताया गया है[1]। अन्त में १२६२ ई० के सुन्ध-गिरि के शिला लेख से पता चलता है कि जालोर के चहमन वंश के शासक चाचिग देव ने चामुण्डा देवी के मंदिर के सामने एक मंडप बनवा दिया था[2]।

रस-साहित्य में मणि मेखला में मरघट में बना हुआ एक काली मंदिर का उल्लेख हुआ है[3]। कालिदास के 'कुमार संभव' काव्य में शिवजी की बारात के प्रसंग में काली-कपालाभरणा का उल्लेख हुआ है। कवि कहते हैं कि सात मातृका देवियों के पीछे-पीछे काली देवी भी बरातिन बन कर चल रही थीं[4]। ऐसी दशा में कवि काली जी को उमा का रूपान्तर नहीं मानते; तथा काली को उमा से प्राचीना भी मानते थे। संयोग से कवि की कल्पना का समर्थन महिंजोदड़ो और हड़प्पा के खंडहरों में प्राप्त कुछ मूर्तियों से होता है। इन डरावनी मूर्तियों के बारे में मार्शल ने सम्मति प्रकट की है कि वे काली देवी की पूर्वजा हैं[5]। पुनश्च रघुवंश में कवि ने ताटका राक्षसी की तुलना 'चलकपाल कुण्डला' कालिका से की है[6]। 'हर्ष चरित' में बाणभट्ट ने लिखा है कि राज-दर्शन के लिये जाते समय उसे एक 'चंडिका-कुंज' के भीतर से गुजरना पड़ा[7]। पुष्यभूति के गुरु भैरवाचार्य के विषय में कहा गया है कि वह मातृका-मंदिर के उत्तर एक बेलबारी में ठहरे थे[8]। मालती-माधव में भवभूति ने श्री शैल की चामुंडा देवी कराला का उल्लेख किया है[9]। पुनश्च अंतिम दृश्य में कवि ने एक कापालिक की करतूत दिखायी है। वह नायिका मालती को देवी के आगे बलिदान देने जा ही रहा था, जब माधव ने उसे बचा लिया[10]। सुबन्धु के वासवदत्ता में एक भिक्षुणी की चर्चा की गई है जो तारा की उपासिका थी[11]। दशकुमार चरित में विदेह के राजकुमार उपहार वर्मन् के विषय में कहा गया है कि जब कुछ जंगली किरात लोग चण्डी देवी के आगे उसे बलिदान देने जा ही रहे थे, उसी समय एक ब्राह्मण ने उसे बचा लिया[12]।

---

[1] पृष्ठ ४१४; [2] एपिग्राफिका इण्डिका, ९।७०-७८; [3] २।४९; [4] ८।३९; [5] महिंजोदड़ो इत्यादि, १।५० [6] ११।१५; [7] २।६२; [8] ३।८७; [9] पहला अंक; [10] पांचवा अंक; [11] पृष्ठ ९७; [12] १।१२;

उपर्युक्त साहित्यिक तथा शिलालेख संबंधी प्रमाणों का विश्लेषण करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि—

(अ) वैदिक साहित्य के विस्तीर्ण क्षेत्र में केवल एक ही स्थान में भद्रकाली का उल्लेख हुआ है—अर्थात् सांख्यायन गृह्य सूत्र में;

(आ) इस प्रकार पिछले दरवाजे से घुसने के बाद मनु महाराज और महाभारत दोनों ने भद्रकाली या काली को मान्यता दी। एक ने प्रतिदिन भद्रकाली को बलि चढ़ाने को कहा, और दूसरे ने महामाया के साथ एकात्मता स्थापित कर दी;

(इ) ऐसा होते हुए भी वैदिक धर्म के कट्टर अनुयायी प्रारंभिक दशा में काली के आगे सर नहीं झुकाते थे, अतः कहीं-कहीं पारशव लोग उनकी पूजा करते थे;

(ई) काली देवी की उत्पत्ति के बारे में अलग-अलग गपें रची गयीं, जो एक दूसरे से बिलकुल नहीं मिलती जुलतीं;

(उ) काली तथा उनके भिन्न-भिन्न रूप जैसे चण्डी, चामुण्डा, चण्डमारी प्रभृति के पूजने की रीति-रस्म भी तामसिक थी; प्रायशः इस प्रसग मे नर बलि या पशु बलि दिया जाता था;

(ऊ) साधारणतः देखा जाता है कि अनुन्नत लोग ही निचली श्रेणी के देवताओं को पूजते हैं; इष्ट देवताओ से वे डरते है तथा हृदय की श्रद्धा और भक्ति समर्पित करने से वे हाथ खींचते हैं;

(ऋ) अतः बाध्य होकर इसी सिद्धान्त पर पहुँचना पड़ता है कि प्रारंभ में संभवतः काली प्रमुख देवियाँ आर्यों के पूर्वजों की देवी रही हो; अनार्य जनता अपने ढंग से इनका पूजन गाँव-गाँव में करती थी, पश्चात् दुर्गा और काली मुख्यतः युद्ध से संबंधित देवता होने के कारण कालान्तर में दोनों को एक साथ सान कर जनता की दृष्टि में एक बना दिया गया।

उत्तर काल का इतिहास

नवरात्रि की चर्चा समाप्त करने के पहले मध्यकाल में जिस ढंग से हमारे

[दे]श के भिन्न-भिन्न भागों में यह उत्सव मनाया जाता था उसका संक्षिप्त विवरण [दे]ना अप्रासंगिक नहीं होगा।

सभी को मालूम है, मध्यकाल में लगभग सारे भारत के आर-पार मुस्लिम शासन स्थापित हो गया था। ऐसी परिस्थिति में प्रचलित संस्कृति और सभ्यता को कुछ काल के लिये दुर्दिनों का सामना करना पड़ा। इसी समय दक्षिण के कुछ उत्साही, देशभक्त वीरों के सामूहिक प्रयत्न से १३३६ ई० में विजयनगर राज्य का संघटन हुआ। तभी से कुछ अधिक तीन सौ वर्ष तक उक्त संस्कृति और सभ्यता वहाँ के रायो तथा सायनाचार्य और माध्वाचार्य जैसे मंत्रियों के तत्त्वावधान में फूलने-फलने लगी। विजयनगर के शासक मत के शैव थे तथा भगवान् विरूपाक्ष (शिवजी) उस राज्य के अधिष्ठाता देवता माने जाते थे। अतः वहाँ बड़े समारोह के साथ नवरात्रि का उत्सव मनाया जाता था।

निरन्तर नौ दिन तक राज्य के शासक महादेवी की अर्चा करते थे और रात को सैकड़ों बकरे और भैंसे प्रतिदिन बलि चढ़ाये जाते थे। इन्हीं दिनों शस्त्रास्त्र, सिंहासन, राजमुकुट, छत्र, राज-हस्ती तथा घोड़े की भी पूजा की जाती थी। इन दिनों राज-भवन में आम दरबार हुआ करता था तथा सभी कोई जा सकते थे। दर्शकों का मन बहलाने के लिये नाना प्रकार के आमोद-प्रमोद की व्यवस्था रहती थी। सामन्त लोग सिंहासनारूढ़ राय को सादर अभिवादन करते थे; सैकड़ों नर्त्तकियाँ नाचती और गाती थीं तथा पहलवान कुश्ती लड़ते थे। संध्या होते ही सारा क्षेत्र अनगिनत मशालों के प्रकाश से जगमगाने लगता था और आतिशबाजी होती थी। फिर अन्तिम दिन साज-सजावट कर, जो जन-यात्रा निकाली जाती थी, उसका कहना ही क्या! जय-रथों की श्रेणी, सजे हुए हाथी और घोड़ों की कतार, वेद मंत्रोच्चारण करते हुए ब्राह्मणों की चलती-फिरती पंक्ति, और अन्त में सोने से मढ़े हुए वेत लेकर चलती हुई दासियों से घिरी हुई छोटी वय की राजकन्याएँ दर्शकों की आँखों को चौंधियाँ देती थीं। १५२२ ई० में पेज़ नाम का एक पूर्त्तगीज़ पर्यटक ने ऐसा एक जलूस देखा था। वह लिखता है—"यह स्वप्न है! यह अलीक कल्पना है! क्योंकि मिट्टी की बनी हुई धरती पर ऐसी अनवद्य सुन्दरता कहाँ?"

जहाँगीर के शासन काल के प्रारंभिक दिनों में (१६०५ ई० राजा मानसिंह ने बंगाल के विद्रोही भुंइया (जमींदार) प्रतापादित्य को हराने के बाद उसकी अधिष्ठात्री देवी, यशोहरेश्वरी नाम की काली-मूर्ति उठाकर चल दिया। वह मूर्ति अभी तक अमेर के खंडहरों में विराज रही है और बंगाली पुरोहित अपने ढंग से देवी की अर्चा करते हैं। शिवाजी भवानी को अपनी इष्ट देवी मानते थे।

१७४२ ई० के अन्तिम दिनों में भास्कर पन्थ ने पहले-पहल सूबे बंगाल पर छापा मारा था। दूसरे वर्ष (संभवतः चैत) में जब वह समारोह के साथ अपने दाइनहाट के पड़ाव में दुर्गा पूजा कर रहा था, उसी समय महानवमी की रात में सूबेदार अलीवर्दी खाँ ने अचानक उसके शिविर पर चढ़ाई कर दी। फलतः मराठों को पीछे हटना पड़ा।

अन्त में उन्नीसवीं शती के प्रारंभ में जिस ढंग से मेवाड़ में नवरात्रि का उत्सव मनाया जाता था, संक्षेप में उसका विवरण दिया जा रहा है। यह विवरण टॉड लिखित राजस्थान नाम के इतिहास की पुस्तक पर आधारित है। ऐसा मालूम होता है कि अलग मूर्ति बना कर देवी जी को पूजने की रीति मेवाड़ में प्रचलित नहीं थी। नवरात्रि के दिनों आश्विन में वहाँ धूमधाम के साथ खड्ग-पूजन किया जाता था और चैत में गौरी को पूजने को प्रथा थी।

"नवरात्रि के पहले दिन, प्रतिपदा के प्रातःकाल विश्वकर्मा का निर्मित प्रख्यात खाँड़ा जिसे वाप्पा राव ने प्राप्त किया था, फिर अलाउद्दीन की चढ़ाई के बाद सोनिगुर सरदार मालदेव ने जिसका पुनरुद्धार किया था, तथा हमीर ने जिसे दहेज के स्वरूप माल देव से प्राप्त किया था, राजकीय आयुध-शाला से हटाकर गाजे-बाजे के साथ किसन पोल में स्थित अंबा माता के मंदिर को पहुँचाया जाता है। वहाँ राज-योगी और महन्त लोग उपचारिक रूप से उसे पूजने का भार लेते हैं तथा देवी के वेदी पर उसे रख देते हैं। तीसरे पहर जलूस के साथ महाराणा स्वयं देवी जी के मंदिर को जाते और खड्ग की अर्चा करते हैं। द्वितीया और तृतीया को राणा अम्बा माता के मंदिर को जाते हैं और कई भैंसे और बकरे बलि चढ़ाये जाते हैं। चौथ को राणा देवी जी के मंदिर में जाकर एक भैंसे को तीर से वेधते हैं। पंचमी को राणा देवी आशापूर्णा जी

के मंदिर को जाते हैं; वहाँ हाथियों की लड़ाई होती है, फिर पशु-बलि होता है। छठ को राणा देवी का पूजन करते और बलि चढ़ाया जाता है। सप्तमी को बलिदान देने के बाद नये साज पहनाकर घोड़ों को तालाब के पानी में नहलाया जाता है। रात को हवन तथा भैंसे प्रभृति का बलिदान देने के बाद योगियों को खिलाया जाता है। अष्टमी को राजभवन में समारोह के साथ हवन होता है। नवमी के तीसरे पहर भारी जलूस के साथ राणा माताचल पर्वत को वह खड्ग लौटा लाने जाता है। इस उपलक्ष्य में योगियों को खिलाया-पिलाया और दक्षिणा से सन्तुष्ट किया जाता है। दशमी के तीसरे पहर जलूस के साथ राणा फिर माताचल पहाड़ को जाता है। वहाँ पूजन करने के बाद वह नीलकंठ पक्षियों को मुक्त कर देता है। फिर बन्दूक और तमंचे की आवाज करते हुए वह राजभवन को लौटता है। एकादशी को राजा माताचल पर्वत पर बल-नीराजन करते हैं। सारा नगर और कुल बाजार सजाये जाते हैं और सड़कों पर तोरण खपे किये जाते हैं। उस दिन जो दरबार होता है उसमें सरदार लोग राणा को नजराना देते हैं, तोपें दगती हैं और चारण लोग मेवाड़ की गौरवोज्ज्वल गाथाओ को दोहराते हैं। उसी दिन हाल में खरीदे हुए घोड़ों का नामकरण किया जाता है। राणा की ओर से सरदारों को इसी समय खिलअत बाँटी जाती हैं। प्रचलित प्रथानुसार बालक उदयसिंह के प्रति दया का बर्त्ताव करने के लिये कोटरिओ के चौहान सरदार को राणा की पहनी हुई पोशाक खिलअत स्वरूप मिलती है।

सम्राट् हर्ष वर्धन का महामोक्ष परिषद्

सभी को मालूम है ह्वेन सांग एक प्रसिद्ध चीनी यात्री का नाम था। तीर्थ-यात्रा के प्रसंग से वह सन् ६३० ई० के लगभग इस देश में आया था और १५ वर्ष के करीब यहाँ रह कर उसने बौद्धमत का गंभीर अध्ययन किया। सम्राट् हर्ष वर्धन उसे बहुत मानते थे। सम्राट् के कहने से वह कभी-कभी धर्मोपदेश भी दिया करता था। ६४३ ई० में उसने सम्राट् के तत्वावधान में आयोजित दो धार्मिक समारोह देखे थे—इनमें से एक तो कनौज में हुआ था

तथा जगमगाता हुआ शिरोमणि—सभी कुछ बिना विचारे दान में दे देता था। सभी कुछ दे देने के बाद जब कुछ भी बच नहीं जाता था; तब महाराजाधिराज श्री हर्ष अपनी बहन राज्यश्री से एक अतीव साधारण वस्त्र माँग कर उसे पहन लेता था, फिर वह बुद्ध भगवान् को पूजने को चला जाता था।

धर्म-पूजन

सभी को मालूम होगा कि भारत के सभी प्रान्तों से खदेड़े जाने के अनन्तर ग्यारहवीं और बारहवीं शती में पाल वंश के प्रतापी शासकों की छत्र-छाया में बौद्ध मत कुछ काल के लिये आजकल के पश्चिमी बंगाल और बिहार प्रान्तों में फलता-फूलता रहा वहाँ उन दिनों सम्राटों के तत्त्वावधान में ओदन्तपुरी और विक्रमशिला जैसे महाविहार, अतीस दीपंकर जैसे धर्मप्रचारक, गोवर्धन आचार्य, जयदेव, धोयी और रामचन्द्र, कवि भारवी जैसे कवि और दार्शनिक लोग निश्चिन्त बैठकर अपना बौद्धिक काम निवाहते गये। इनके अतिरिक्त इन्हीं दिनों कुछ अच्छे से अच्छे मूर्ति-कला-विशारद शिल्पी और चित्रकार भी हो गये, जिनकी कृतियों का निदर्शन अभी तक कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत मिल जाता है।

बिहार और पश्चिमी बंगाल में उन दिनों महायान शाखा के बौद्ध मत का प्रचार था। तांत्रिक महायानी अनेकानेक देव-देवी तथा अपदेवताओं का पूजन करते थे। पाल वंश के शासन-काल के अन्तिम दिनों में इनमें से बहुत से देवताओं को सनातनी जामा पहनाकर हिन्दू धर्म ने अपना लिया। चामुण्डा, चण्डी, तारा, भैरव प्रमुख कुछ ऐसे देवता हैं, जिनका प्रवेश पिछले दरवाजे से हुआ था।

महायान शाखा के प्रधान देवता अवलोकितेश्वर का नाम पूर्वी प्रांतों में लोकनाथ पड़ा था। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि प्रारंभिक दशा में लोकनाथ को केन्द्र मानकर बंगाल में भक्तिवाद के सिद्धान्त की रचना हुई थी। किन्तु बौद्ध ढंग का भक्तिवाद और वैष्णव मत के भक्ति-भाव के ढाँचे में बड़ा भारी अन्तर है। बौद्ध भक्ति को ज्ञान का अविच्छेद्य अंग मानते हैं; इसके विपरीत वैष्णवों का कथन है कि भक्ति के साथ ज्ञान का कोई संबंध नहीं तथा

वह साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, भक्ति की आधारभूत कल्पना में मतभेद रहते हुए भी मानना ही पड़ेगा कि बौद्धमत के लोकनाथ वाद ने कालान्तर में श्री चैतन्य महाप्रभु का पथ प्रशस्त करने में सहायता दी थी।

पढ़े-लिखे लोग धर्म संबंधी मत-भेद के दलदल में नहीं फँसे हुए थे। धार्मिक मामले में ऐसे लोग उदारता से काम लेते थे। रामचन्द्र कवि भारवी (१३वीं शती) जाति के ब्राह्मण थे। आपने सिंहल की यात्रा की थी। वहीं उन्होंने त्रिपिटकाचार्य राहुलपाद से त्रिपिटक का अध्ययन कर हीनयान मत को अपनाया था। आपके पाण्डित्य से मोहित होकर सिंहल के शासक, पराक्रमबाहु ने उन्हें 'बौद्धागम-चक्रवर्ती' की उपाधि दी थी। वहाँ रहते समय रामचंद्र ने भक्ति शतक, वृत्तमाला प्रभृति कविता की पुस्तकें लिखीं। भक्तिशतक में कवि भगवान् को प्रणाम करते हुए कहते हैं—"......उसी भगवान् को हम नमस्कार करते हैं—चाहे वह बुद्ध हों और चाहे वह गिरीश ही क्यों न हों!"

नाथ संप्रदाय

लगभग सातवीं शती से पूर्वी प्रान्त की जनता अधिकतर शैव मत के नाथ संप्रदाय या बौद्धमत के सहज संप्रदाय की अनुयायिनी बन गयी थी। नाथ पन्थी संन्यासियों को लोग प्रायशः योगी कहते थे। कापालिकों की भाँति वे शरीर में भभूत पोतते, कानों में छेद कर उसमें मुर्दों की हड्डी खोंसते और गले में हड्डी की बनी हुई माला पहनते थे। इनकी रहन-सहन का ढंग विचित्र होने के कारण वे साधारणतः गाँव के बाहर रहा करते थे। नाथ संप्रदाय में हिन्दू तथा बौद्ध दोनों मत के जिज्ञासु ले लिये जाते थे। गोरखनाथ पहले हिन्दू थे। अभी तक नेपाल में गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्र नाथ का पूजन किया जाता है। नाथपंथी साधकों ने देह तत्त्व संबंधी, गाने के उपयोगी दोहे और पदों की रचना की थी। अभी तक पश्चिमी बंगाल में युगी (योगी) नाम की एक जाति देखने में आती है। उनकी उपाधि नाथ होती है तथा रीति-नीति में भी कुछ विलक्षणताएँ पायी जाती हैं।

सहज संप्रदाय

बौद्धमत के प्रचार की अन्तिम दशा में पूर्वी प्रान्त में सहजमत का प्रचार

हुआ था। कहा जाता है कि ग्यारहवीं शती के लगभग लुई पाद ने पहले-पहल बौद्ध मतावलंबियों के बीच इस मत का प्रचार किया था। लुई पाद दीपंकर श्री ज्ञान के समसामयिक थे। लुई तथा उनके शिष्य परंपरा को लोग सिद्धाचार्य कहते थे। तिब्बत में अभी तक वे पूजे जाते हैं; राढ़ (पश्चिमी बंगाल के वर्धमान, बाँकुड़ा, बीरभूम प्रभृति जिलों) में अभी तक नीच जाति के लोग उनके नाम से मनौती के बकरे छोड़ते हैं। सहज संप्रदाय वालों ने भी अपने मत के प्रचार के लिये दोहे तथा पदों की रचना की थी। कीर्त्तन करते समय उपासक लोग इनको दुहराते थे। सरोरुह वज्र, शान्ति देव (भूसुकु), कानु भट्ट प्रभृति इस संप्रदाय के बड़े नामी रहस्यवादी लेखक हो गये।

सहजमत वाले अद्वयवादी होते थे; विरोधी या द्वन्द्व भावों का समन्वय करने पर बल देते थे। परस्पर-विरोधी दोनों अन्त को त्याग कर वे मध्यम पथ का अनुयायी बनने को कहते थे। ईड़ा और पिंगला, दोनों को छोड़, सुषुम्ना की शरण में पहुँचने कहते थे। उन्होंने शून्यवाद या साम्यवाद का प्रचार किया। इसी भावना से प्रेरित होकर सरोरुह-पाद ने सम्मति प्रकट की थी—'मुक्ति प्राप्त करने के लिये विरोधी भाव त्याग कर सहज पथ अपनाना ही पड़ेगा।' अतः सहज पंथी भव और अभव, जन्म और निर्वाण, अपना और पराया—यह सब बिलकुल नहीं मानते। "सभी कुछ शून्य है—सभी कुछ निरन्तर बुद्ध है"—यही उनका कहना था। वे करुणा के संदेश का प्रचार करते थे। सहजमत वाले वेद, यज्ञ-हवन, जाति-भेद की प्रथा प्रभृति को निरर्थक समझते थे। वे गुरुवाद के परम अनुयायी थे तथा गुरु को बुद्धि से भी बढ़ कर मानते थे। वे अध्ययन को भी व्यर्थ समझते थे तथा गुरु के मुँह से निकले हुए शब्दों पर अधिक बल देते रहे। सहजयान वालों का सिद्धान्त यह था कि प्रारम्भिक दशा में ब्रह्मचारी जैसा तंत्रों में जिसका नाम 'पशु दशा' पड़ा है, शास्त्रोक्त संयमादि विधि-निषेधों का पालन कर साधक के लिये बिन्दु को स्थिर या समभावापन्न करने की आवश्यकता है। फिर गृहस्थाश्रम में उचित ढंग से धर्माचरण करने के लिये जैसे समान जाति-कुल-गोत्र-लग्न राशि प्रभृति वाली धर्म-पत्नी का होना अनिवार्य है, उसी प्रकार पशु दशा में स्थिरीकृत बिन्दु को क्षुब्ध कर 'वीर'

को ऊर्धरेता बनाने के लिये पद्मिनी वर्ग की नायिका जिसने पशु-दशा को पार किया हो, का होना आवश्यक है। वीर और नायिका, अन्योन्याश्रित हो दोनों एक दूसरे को प्रभावित कर परिपूर्ण बनावेंगे, तभी पुरुष और प्रकृति संन्यास जैसा 'दिव्य दशा' को अपना सकती है। चरम दशा में परिपूर्णता आ जाने पर पुरुष और प्रकृति में भेद नहीं रहता। इसी का नाम अद्वयवाद या शून्यवाद है। इसी भवना द्वारा मोहित होकर 'चर्याचर्य विनिश्चय' में कानु भट्ट ने सम्मति प्रकट की है कि घर की जोरू से प्रेम करने से वह प्रेम चरम विन्दु तक नहीं पहुँचता क्योंकि व्याही हुई पत्नी के लिये सर्वदा पद्मिनी होना संभव नहीं। पुनश्च शिक्षा समुच्चय में शान्ति देव (भूसुकु) ने कुटिया बनाने, खाना पकाने, शयन-विधि के साथ-साथ स्त्रियों से विहार और मद्यपान की विधि का भी विशद् वर्णन किया है। सहजयान वाले साधना के तीन मार्ग बतलाते थे। अवधूती द्वैतवादी थे; चाण्डाली में थोड़ा बहुत द्वैतवाद का वास आता था; डोम्बी या बंगाली पक्के अद्वैतवादी या मध्य पंथी थे। किन्तु वहिरंग में विभिन्नता रखते हुए भी सभी का ध्येय एक था।

आदर्श ऊँचा होने पर भी कालान्तर में जड़-बुद्धि तथा कथित साधकों ने इसका दुरुपयोग करना आरंभ किया। तांत्रिक बौद्धों को धार्मिक कृत्य की आड़ में मद्यपान करते और नीच जाति की स्त्रियों को शक्ति बनाते देख पूर्वी प्रान्त की अबोध जनता उनका अनुकरण करने लगी। क्रमशः उसमें दुराचार और भ्रष्टाचार समा गयी। समाज में अनाचार और अव्यवस्था हो गयी। इसकी प्रतिक्रिया पारिवारिक जीवन पर भी हुई। यही कारण है जिसके लिये आदि शूर और बल्लाल सेन को पूर्वी प्रान्त के समाज का नये सिरे से संघटन करना पड़ा तथा रघुनन्दन प्रमुख नव्य स्मृति के आचार्यों को कठिन से कठिन विधानों को लागू करना पड़ा।

ग्यारहवीं और बारहवीं शती में बंगाली समाज का पुनः संघटन के साथ-साथ भ्रष्टाचारी तांत्रिक मत के बौद्धों के चंगुलों से निर्बोध जनता का उद्धार करने के लिये भक्ति आन्दोलन खड़ा करना पड़ा। इसका केन्द्र शिव-पार्वती बनी। बुद्ध भगवान् के जीवन-नाटक के साथ ताल-मेल रखने के लिये वैदिक

काल के भीम-भैरव रुद्र कैलास पहाड़ पर सोने के बने हुए अपने महल रहते और कुबेर उनके भण्डारी होते हुए भी उन दिनों के सर्व-त्यागी, श्मशान-निवासी, नीलकंठ, शिव बने। कहा गया भोले को भुलाने के लिये जप-तप, पूजा-पाठ, हवन-तर्पण कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं। उनके प्रति भक्ति करने से ही मुक्ति मिलती है। पुनः पारिवारिक शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य से आदर्श पत्नी के रूप में देवी गौरी उनके पास रख दी गयी। पति-निन्दा सुनते ही सती देह-त्याग करती है।

देहाती क्षेत्र के ग्रामीण अंधी परंपरा के अनुयायी होकर 'नाना प्रकार के जीवों को बलि चढ़ा कर वन-दुर्गा का पूजन करते या पेड़ों के नीचे क्षेत्र-पाल को रक्त चढ़ा कर सन्ध्या होते ही सहेलियों के साथ एकतारा बजा कर नृत्य-गीत करते और बेल के खोपरे में मदिरा भर कर उसी को पीते थे।" 'उपर्युक्त देव-देवियों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न गाँवों में अलग अलग ग्राम-देवताओं की अर्चा की जाती थी। इन देवताओं में जब जिनकी अधिक चल पड़ती थी, तब उनके दर्शन के लिये दूर-दूर गाँवों से लोग आते रहे। इस प्रकार बहुत गाँव ग्राम-देवताओं के प्रभाव से प्रसिद्ध पीठ-स्थान बन गये— अर्थात् वहाँ किसी साधन को सिद्ध या मुक्ति मिली थी, या उन्हें अपने इष्ट-देव के दर्शन मिले थे। बाँकुड़ा, वीरभूम प्रमुख जिलों में अभी तक ऐसे बहुत-से पीठ स्थान विद्यमान हैं।

इन्हीं दिनों पश्चिमी बंगाल में धर्म-ठाकुर को पूजने की प्रथा चल निकली। ऐसा भी समय था जब धर्म ठाकुर को सर्वत्र पूजा चढ़ायी जाती थी। कलकत्ते की धर्मतला अभी तक इस बात की गवाही दे रहा है। उसी के बगल में चौरंगी है। कलकत्ते का यह स्थान केन्द्र माना जाता है। इस स्थान का नाम-करण मीन नाथ, गोरखनाथ प्रभृति के समसामयिक चौरंगी नाम के एक सिद्धाचार्य के नामानुसार किया गया था। आगे चल कर ठाकुर जी को भक्ति आन्दोलन से टक्कर लेना पड़ा तब और और जिलों से खदेड़े जाने पर उन्होंने राढ़ देश को अपना मुख्यावास बनाया। आजकल वर्धमान कमिश्नरी के बाहर धर्म ठाकुर की चर्चा कहीं नहीं होती।

ऊपर विकृत बौद्ध मत के बहिष्कार की चर्चा की गयी है। इस प्रसंग में जिन-जिन उपायों से काम लिया गया था उनका अब वर्णन हो रहा है। बौद्ध मंदिरो को शिव मंदिरों में परिणत कर दिया गया और भ्रष्टाचारी बौद्ध भिक्षुओं को हटा कर ब्राह्मण जाति के पुरोहित शिव भगवान् को पूजने लगे। तांत्रिक बौद्ध मत वाले भी महाकाल की अर्चा करते थे। अतः इस फेर-बदल से किसी की आँख किरकिराने नहीं लगीं। लोकनाथ जैसे धर्मठाकुर भी बुद्ध भगवान् के लौकिक संस्करण थे, तथा बौद्ध त्रि-रत्न में उनका स्थान दूसरा था। उन दिनों बौद्ध त्रि-रत्नों की मूर्ति बना कर पूजने की प्रथा थी। गया के निकट महाबोधि विहार में इस प्रकार की मूर्तियाँ मिली हैं [1]। कुछ लोगों का कहना है कि प्रारंभिक दशा में जगन्नाथ आदि भी बौद्ध त्रि-रत्न थे। जयदेव प्रमुख कवियों ने बुद्ध देव को विष्णु भगवान् का अवतार मान लिया। धर्म मंगल जैसे लौकिक बौद्धमत की धर्म-पुस्तकों का काया पलट कर दिया गया और जगह-जगह पर बुद्ध भगवान् की महिमा सूचक बातों को उड़ा दे कर शिव भगवान् या चण्डी देवी की महत्ता की कथा जोड़ दी गयीं। शून्य पुराण में रामाई पंडित ने संघ के स्थान में निरन्तर शंख शब्द का उपयोग किया है। पुनः लक्ष्य करने का विषय है कि उसी पुस्तक में यह मार्के की पंक्ति है—'धर्मराज यज्ञ निन्दा करे।' फिर उसी ग्रंथ में कहा गया है कि 'सिंहल में धर्म राज का बड़ा सम्मान है।' और एक स्थान में कहा गया है कि 'पहले प्रभु ललित अवतार रह चुके थे।' यहाँ पर स्मरणीय है बुद्ध घोष रचित बुद्ध भगवान् की जीवनी का नाम ललितविस्तर है। धर्ममंगल नाम की पुस्तकों में मीन नाथ (मत्स्येन्द्र नाथ), गोरखनाथ, हाड़ीप, कुलप प्रमुख सिद्धाचार्यों के नाम प्रायः आते हैं। इन ग्रंथों में जो निरंजन, शून्यमूर्ति प्रभृति शब्द मिलते हैं, ये सीधे बौद्ध शास्त्र-ग्रंथों से लिये गये हैं। शून्य पुराण और धर्ममंगल ग्रंथों में बौद्ध शून्यवाद की विशद् व्याख्या की गयी है। धर्म ठाकुर के पुजारी अधिकतर डोम, हाड़ो, मोची प्रभृति नीच जाति के लोग होते थे। बंगाल प्रान्त से बौद्धमत के

---

[1] कनिंगहम् का महाबोधि, पृष्ठ २१; प्लेट २६;

बहिष्कार होने के बाद सीधे सन् '१६४० ई० तक जाति-च्युत होने के डर के मारे ब्राह्मण जाति के पुजारी धर्म-मंदिर के पुरोहितों के साथ मिलते-जुलते नहीं थे। उसी वर्ष माणिक गांगुली नाम के ब्राह्मण को धर्ममंगल ग्रंथ रचने का स्वप्नादेश हुआ था। घबरा कर ब्राह्मण ने पूछा था--ऐसा करने से यदि जाति खोनी पड़े ? तभी तक धर्म ठाकुर हिन्दुओं के देव-देवी-समाज के बाहर थे। किन्तु धर्ममंगल के गीतों की लोकप्रियता के कारण कालान्तर में ब्राह्मणों ने उनको अपना लिया और भक्ति तथा शाक्त मत की शिक्षाएँ जोड़-तोड़ कर उन्हें हिन्दू धर्म के प्रामाणिक ग्रंथ बना दिये। परन्तु इन आवरणों को हटा कर खोज करने से उत्तर काल के विकृत बौद्ध मत की बहुत सी छाप अभी तक मिलती हैं। इसी समय कहीं-कहीं के बौद्ध देवता धर्म ठाकुर भी हिन्दू बना लिये गये। इस प्रकार धर्म ठाकुर का भी प्रवेश पिछले दरवाजे से हुआ था।

उपर्युक्त ठोस प्रमाणों के होते हुए भी कुछ आधुनिक विद्वानों ने सम्मति प्रकट की है कि आर्य और अनार्य कई देवताओं की खिचड़ी पका कर उन दिनों के धर्म ठाकुर की रचना हुई थी। उनका कथन है कि वैदिक काल के वरुण और रथ पर सवार सूर्य, अवैदिक कूर्म और कल्कि अवतार, तथा अनार्य पत्थर, तामा और वृक्ष-देवता प्रभृति कुल देवताओं को एक साथ सान कर धर्म ठाकुर की कल्पना की गयी थी। ध्यान करते समय धर्म ठाकुर की जो 'शून्य मूर्ति की चिन्ता करने कहा गया है, उनका कहना है कि यहाँ शून्य का अर्थ बौद्ध साम्यवाद नहीं, प्रत्युत निष्कलंक, निर्दोष या शुभ्र है। धर्म देवता निरंजन, अनवद्य और रंग के गोरे हैं। वे सफेद रंग के उल्लू या कौए की सवारी करते हैं। रूपकों में भी उन्हें कहीं-कहीं सफेद रंग का हंस माना गया है। पत्थर या तामे का बना हुआ कछुआ उनका प्रतीक माना जाता है, तथा उसी के पीठ पर धर्म ठाकुर की खड़ाऊँ के चिह्न खींचे रहते हैं। अभी तक धर्म ठाकुर के पुजारियों के गले से यह पादुका लटकती हुई देखी जाती है। इन विद्वानों का कहना है कि उन दिनों डोम जाति के लोग पश्चिमी बंगाल की लड़ने वाली जातियों में से थे। धर्म ठाकुर उन्हीं के देवता थे। इस लिये प्रारंभिक दशा में धर्म ठाकुर के पुरोहित प्रधानतः डोम-पंडित होते थे। आज कल धोबी, कलवार, नोची प्रभृति

नीच जाति के लोग भी धर्म मंदिर में पुरोहिती करते हैं। जहाँ-जहाँ धर्म ठाकुर का चोला बदल कर शिव या विष्णु बना दिया गया है, वहाँ ब्राह्मण पुजारी का काम करते हैं। प्रारंभ में धर्म ठाकुर को मद्य-मांस का भोग और सूअर का बलि चढ़ाया जाता था। आज कल प्रायशः बत्तक, कबूतर, बकरा प्रभृति का बलिदान दिया जाता है। कदाचित् गाजन (वार्षिकोत्सव) के समय देवता को सुरा से नहलाया जाता है और सूअर बलि चढ़ाये जाते हैं। गाजन के अवसर पर देयासी (देवदासी) चेहरा पहन कर मृतक और खोपड़ी लेकर 'पाता नाच' (पात्र-नृत्य) करती थीं। राढ़ देश में कहीं-कहीं अभी तक यह प्रथा चालू है[1]।

उपर्युक्त विवरणों से यही निष्कर्ष निकलता है—

(१) प्रारंभिक दशा में धर्म ठाकुर वैदिक अथवा उत्तर काल के पौराणिक हिन्दू देव-देवी-समाज के अन्तर्गत नहीं थे;

(२) ग्यारहवीं शती में पश्चिमी बंगाल में धर्म के क्षेत्र में जो महती क्रान्ति हुई थी, उसी के प्रसंग में किसी-किसी स्थान के धर्म ठाकुरों को हिन्दू देव-देवी समाज में सम्मिलित कर लिया गया।

रामाई पंडित

पश्चिमी बंगाल में धर्म पूजन प्रचलित करने का श्रेय रामाई पंडित का है। बाँकुड़ा जिले में दारुकेश्वर नदी के किनारे चंपाई घाट नाम के गाँव में उनका जन्म हुआ था। शून्य पुराण से यद्यपि उनकी जन्म तिथि का पता चलता है, परन्तु सन्-संवत् का कुछ भी पता नहीं लगता। बहुत अन्वेषण के बाद विद्वानों ने उनको पाल-वंश के शासक धर्मपाल (२) जो महीपाल (१०२६ ई०) के लगभग हो गये, समसामयिक ठहराया है। राजेन्द्र चोल का तिरुमलय शिलालेख में (१०१२ ई०) धर्मपाल का उल्लेख हुआ है। अतः अनुमान किया जाता है कि दसवीं शती के अन्तिम पाद की वैशाखी शुक्ला पंचमी तिथि को रामाई का जन्म हुआ था। धर्ममंगल काव्यों के नायक मानिक चंद, गोपीचंद, लाउ

[1] सुकुमार सेन : प्राचीन बांगला ओ बांगाली, पृष्ठ ४०-४१;

सिद्धाचार्य हाड़िपा, कानुपा प्रभृति रामाई के समसामयिक हो गये। धर्म-पूजन
र्त्तन करने के काम में रामाई के अतिरिक्त सेताई, नीलाई और कंसाई
ने भी हाथ बटाया था। अतः ये चारों धर्म-पंडित माने जाते थे। प्रत्येक
क-एक कोतवाल और घट-दासी होती थी। इनके अतिरिक्त सैकड़ों की
में अनुयायी थे।

रामाई की जन्म-तिथि का जैसे निश्चय नहीं, उसी प्रकार उनकी जाति
कोई ठीक ठिकाना नहीं। कुछ लोग उन्हें ब्राह्मण मानते हैं, पनः कुछ
डोम कहते हैं। यद्यपि शून्य पुराण में रामाई ने अपने को द्विज कहा है,
नगेन्द्र वसु प्रमुख विद्वानों ने उनको ब्राह्मण माना है। इसके विपरीत रामाई
ाज जो अभी तक मयना के धर्म ठाकुर, यात्रा सिद्धिराय के पुजारी डोम-
कहे जाते हैं, अतः दीनेश सेन प्रमुख विद्वानों ने उन को जाति का डोम
है। किन्तु अधिक संभव है रामाई ब्राह्मण नहीं थे। उपनयन संस्कार के
से ब्राह्मण बटु पक्का द्विज बन जाता है, उसी प्रकार 'ताम्र-दीक्षा' हो जाने
नन्तर रामाई ने संभवतः अपने को द्विज माना हो?

चाहे कुछ हो—रामाई के पिता विश्वनाथ द्वारकापुरी (राढ़ में) के रहने
े। किसी उपपातक में फँस जाने के कारण धर्म ठाकुर उन से बहुत बिगड़
ौर इसके लिये उन्हें घर छोड़ना पड़ा। सस्त्रीक जब वह हिमालय के
और जंगलों में रमते फिरते थे, उसी समय वैशाख की शुक्ला पंचमी तिथि,
र को रामाई का जन्म हुआ। रामाई की अवस्था जब पाँच वर्ष की थी
नके पिता का स्वर्गवास हो गया। धर्म ठाकुर के कहने से एक ब्राह्मण ने
अनाथ बालक का पालन-पोषण किया। फिर बड़े हो जाने पर उस ब्राह्मण
ाई को ब्राह्मणोपयोगी संस्कार न दे कर ताम्र-दीक्षा दी।

ताम्र-दीक्षा

वयस्क हो जाने पर ब्राह्मण बालकों का जैसे उपनयन संस्कार होता है,
प्रकार रामाई पंडित के वंशजों की ताम्र-दीक्षा होती है जब बालक की वय
१५ तक हो जाती है, तभी उसे दीक्षित किया जाता है। दीक्षा देने के

पहले चूड़ाकरण (मुंडन), गणेश-पूजन, घट-स्थापन, आभ्युदयिक श्राद्ध, पंच शत होम इत्यादि कृत्य किये जाते हैं। दीक्षित बालक तभी से ब्राह्मणों के समान माना जाता है। वह धर्म ठाकुर के पुजारी बनने का अधिकार प्राप्त करता है तथा पश्चिमी बंगाल में जो ३६ प्रकार की नीच जातियाँ हैं, उनकी विवाह और श्राद्धादि के अवसर पर पुरोहिती भी करता है। ताम्र-दीक्षा देने की प्रथा रामाइ पंडित के कुल में ही सीमित है।

कालान्तर में धर्म-पूजन के विषय में रामाइ से बढ़ कर और कोई पुरोहित नहीं रह गया। मयूर भट्ट के धर्म पुराण और धर्ममंगल ग्रंथों का कथन है कि उनकी निपुणता के आगे देवता भी थर्राते थे। अस्सी वर्ष के हो जाने पर रामाई ने केशवती नाम की एक कन्या को व्याहा था। यद्यपि उसकी जाति और कुल का कोई ठिकाना नहीं था, अतः वह अयोनि संभवा मानी जाती है। रामाई के एक मात्र पुत्र का नाम धर्मदास था। रामाइ के शिष्यों में रानी रंजावती हो गयी। वह धर्मपाल (२) के बेटे गएडेश्वर की साली लगती थी, तथा मयनागढ़ के सामन्त राजा कर्ण सेन की धर्म पत्नी थी। रामाई का निर्देश से कठोर तप कर उसने धर्म ठाकुर को, प्रसन्न किया और पुत्रवती हुई। कहा जाता है कि वृद्धावस्था में चम्पातला और मयनापुर के बीच हाकुंडा गाँव में रामाई ने योग-बल द्वारा शरीर छोड़ा था। बहुत दिनों तक धर्म-पूजन के मामले में उनके वंशजों का एकाधिकार था।

धर्ममंगल काव्य

धर्म ठाकुर के माहात्म्य के प्रचार के लिये क्रमशः धर्ममंगल नाम के कई काव्यों की रचना हुई। इन में से मयूर भट्ट का काव्य सबसे पुराना माना जाता है। संभवतः मयूर भट्ट बंगाल पर मुस्लिम-विजय के समय, अर्थात् बारहवीं शती में हो गये। सीधे १७ वीं शती तक ऐसी पुस्तकों की रचना होती गयी। मानिक राम गांगुली के धर्ममंगल की रचना-तिथि १६४० ई० थी। मध्यकाल में पश्चिमी बंगाल के गाँव-गाँव में धर्ममंगल की कविताएँ दोहरायी जाती या गायी जाती थीं। अतः इनका साहित्यिक मूल्य अधिक न होने पर भी वे सुनने वालों के हृदय में प्रेरणा भरने के उपयोगी समझे जाते थे।

धर्ममंगल काव्यों का कथा भाग इस प्रकार है—

गौड़ेश्वर धर्मपाल (२) के पुत्र गएडेश्वर के शासन काल में सोम घोष राज-भवन का एक चित्र निम्न पदस्थ अधिकारी था। उसकी स्वामि-भक्ति और कर्त्तव्य परायणता से मोहित होकर सम्राट् ने उसे अजय नदी के किनारे धाकुड़ नामक गाँव जागीर के रूप में दिया था। इसी सोम घोष का बेटा इछाई घोष हो गया। वह कट्टर काली भक्त था। बाप के बहुत मना करने पर भी इछाई ने गौड़ेश्वर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उसके विरुद्ध कई बार सेनाएँ भेजी गयीं। परन्तु देवी जी की कृपा से इछाई ने प्रति बार उसको मार भगाया। निदान सम्राट् ने मयनागढ़ के सामस्त राजा कर्ण सेन को इछाई से लड़ने भेजा। किन्तु इछाई उसे बुरी तरह से हराया। इस मुठभेड़ में कर्ण सेन के चार बेटे काम आये और मारे शोक के विह्वल होकर उसकी पटरानी की भी मृत्यु हो गयी।

शोक से बिलकुल पस्त होकर, अपनी पराजय की वार्त्ता सुनाने के लिये कर्ण सेन सम्राट् के दरबार में पहुँचा। उसकी दशा देख कर सम्राट् का हृदय पसीज गया। अतः अधिक वय के होने पर भी सम्राट् ने अपनी साली रंजावती से उसका विवाह कर दिया। विवाह के बाद रंजावती रामाई पंडित की चेलिन बनी तथा धर्म ठाकुर को प्रसन्न करने के लिये उसने कठिन से कठिन तप किये। अन्ततः संतुष्ट हो कर ठाकुर जी ने उसे पुत्रवती होने का वर दिया फलतः लाउ सेन का जन्म हुआ। यही लाउ सेन धर्ममंगल काव्यों के नायक माने जाते हैं।

लाउसेन अपने समय के वीर योद्धा और धर्म ठाकुर के परम भक्त हो गये मयना गाँव में अभी तक ग्यारहवीं शती में उनका बनाया हुआ धर्म मंदिर खड़ा है। पश्चिमी बंगाल के लोग अभी तक लाउ सेन की वीरता और अचल भक्ति की बातें भूले नहीं हैं। अभी तक बंगाल में प्रचलित पंचांगों में युधिष्ठिर, महीपाल, अकबर प्रमुख प्रख्यात शासकों के साथ साथ लाउ सेन का भी नाम जोड़ देने की रीति है।

लाउ सेन के वयः प्राप्त होने पर गौड़ेश्वर ने उसकी सहायता से इछाई घोष प्रमुख कई विद्रोही सामन्तों को दबाया। इछाई ने वीरगति प्राप्त की, पश्चात् राजकुमारी कानेड़ देवी को युद्ध में हरा कर लाउ सेन ने उससे विवाह किया।

उपर्युक्त घटनाओं के अतिरिक्त धर्ममंगल काव्यों में लाउ सेन के मामा, माहुद्य की चालबाजी, ओछापन, षड्यंत्र प्रभृति का विशद् विवरण पाया जाता है। ऐसा मालूम होता है कि भाई के मना करने पर भी रंजावती ने बूढ़े कर्ण-सेन से विवाह कर लिया था। तभी से माहुद्य और रंजावती में अनबन हो गयी। जब माहुद्य अपनी बहन का कुछ भी बिगाड़ न सका तब वह अपना क्रोध भांजे लाउ सेन पर उतारना चाहा। वह था भी बड़ा प्रभावशाली व्यक्ति। अतः वह सदा लाउ सेन के विरुद्ध शासक का कान भरने लगा निदान उसके उकसाव से प्रभावित हो कर सम्राट् ने लाउ सेन के जिम्मे कई जोखिम के काम सौंपे। इन में से एक काम यह भी था कि उसे सूर्य भगवान् को पश्चिमी दिशा से उगाना पड़ेगा, और यदि वह ऐसा करने में असमर्थ रहा तो उसे बध कर दिया जायगा। जब लाउ सेन हाकुडा में तपश्चर्या करने में लगा हुआ था, उसी समय मौका पाकर माहुद्य ने मयनागढ़ पर चढ़ाई कर के घेरा डाल दिया। इस अवसर पर कालु डोम, लोखा डोमिन और उनके पुत्र शक ने अद्भुत वीरता, धीरता, स्वामि-भक्ति और बहादुरी दिखायी थी। अन्ततोगत्वा धर्म ठाकुर की कृपा से सभी दिशाओं में लाउ सेन की जीत रही तथा शत्रुओं को उसके आगे झुकना पड़ा।

कथा-भाग की ऐतिहासिकता

धर्ममंगल काव्यों में लाउ सेन, माहुद्य, कानेड़ प्रभृति से नाम प्राकृत हैं। काव्य की प्राचीनता तथा ऐतिहासिकता का यह एक प्रमाण है। इसके अतिरिक्त मीन नाथ (मत्स्येन्द्र नाथ), गोरख नाथ, कानुपा, हाड़ीपा, चौरंगी प्रमुख सिद्धा-चार्यों के नाम भी इस में आते हैं। अभी तक तमोलुक (मेदनीपुर) के निकट मयना-गढ़ में लाउ सेन के राज भवन के भग्नावशेष दिखाई पड़ते हैं। बाँकुड़ा जिले में अजय नदी के किनारे इछाई घोष के टूटे-फूटे चिह्न अभी तक विद्यमान हैं; पुनः श्याम-रूपा नाम की काली-मूर्ति जिसकी वह अर्चा करता था, अभी तक विराजती है।

उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से यही निष्कर्ष निकलता है कि धर्ममंगल काव्य का कथा-भाग विशुद्ध कवि-कल्पना नहीं है, प्रत्युत उसकी रचना ऐतिहासिक

तथ्यों पर की गयी थी। ग्रामीण जनता की दृष्टि में रोचक बनाने के लिये भले ही कवि लोग कहीं कहीं नमक-मिर्च का उपयोग अधिक कर दिये हों, किन्तु उसकी आधारशिला ऐतिहासिक है।

यात्रा सिद्धि राय

पश्चिमी बंगाल में जितने धर्म ठकुर हैं, मैनापुर के यात्रा सिद्धि राय उनके अगुआ माने जाते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि ग्यारहवीं शती में लाउ सेन ने यह मंदिर बनवाया था। सभी जाति के लोग ठाकुर जी का पूजन करते हैं। पुरोहित 'डोम पंडित' कहलाते हैं। वह रामाई पंडित के वंशधर हैं।

प्रति वर्ष यात्रा सिद्धि राय के सम्मान में समारोह के साथ 'गाजन' या वार्षिकोत्सव मनाया जाता है। हजारों यात्रियों की भीड़ लगती है। सभी कोई दारुकेश्वर नदी के चाँपातला घाट में स्नान कर ठाकुर जी का दर्शन और पूजन करते हैं। इस उपलक्ष्य में कवि सम्मेलन के अतिरिक्त 'कालिका नाच' अर्थात् स्त्रियाँ काली का वेश बना कर मृतकों की खोपड़ी हाथ में ले कर नाचती हैं। इसके पहले पात्र-नृत्य होता था। इसका वर्णन ऊपर हो चुका है।

निरंजन का रुष्मा (रोप)

छपे हुए शून्य पुराण के अंत में इस शीर्षक की कविता देखने में आती है। ऊपरी तौर पर देखने से भी ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना रामाई पंडित ने नहीं की थी, तथा बाद में किसी ने जोड़ दिया था। प्रक्षिप्त होते हुए भी इस कविता का ऐतिहासिक मूल्य है। इस विचार से उसका सारांश नीचे दिया जा रहा है।

ऐसा मालूम होता है कि सेन वंश के शासन काल में पश्चिमी बंगाल में फिर एक बार हिन्दू धर्म का सितारा चमका। हिन्दू धर्म का दौर-दौरा स्थापित हो जाते ही ब्राह्मणों के प्रभाव की अभिवृद्धि हुई। उन दिनों बंगाल की जनता अधिकतर बौद्ध थी। लोग उन्हें सद्धर्मी कहते थे। ब्राह्मण लोग इन से कसाई सा बर्ताव करने लगे। गौड़ (मालदह) और जाजपुर (बाँकुड़ा) में ब्राह्मणों ने इन सद्धर्मियों पर एक प्रकार का कर लगा दिया। जो सद्धर्मी देने से अस्वीकार

करते थे, उन पर वे बड़े-बड़े अत्याचार करते थे। इस से घबरा कर सद्धर्मियों ने धर्म ठाकुर की शरण ली। अपने अनुयायियों की रक्षा के लिये ठाकुर जी मुसलमान बन कर वहाँ पहुँच गये। 'उनके माथे पर काली टोपी थी, हाथ में तीर-धनुष था, वह घोड़े पर सवार थे— लोग उन्हें खोदा कहते थे।' आगे कवि कहते हैं—'इस प्रकार निरंजन (धर्म ठाकुर) को 'भेस्त' (विहिश्त) का रूप धारण करते देख, ब्रह्मा मुहम्मद, विष्णु पयगम्बर, शिव आदम्फ (आदम), गणेश गाज़ी, कार्त्तिक काज़ी बन कर जाजपुर पहुँचे। वहाँ और गौड़ में उन्होंने मठ और मंदिरों को ढहा कर मिट्टी के साथ मिला दिया, और 'पाखड़! पाखड़!!' (पकड़ो, पकड़ो) चिल्लाते हुए उन्होंने ब्राह्मणों को मार भगाया।'

इस प्रकार आपसी मनमुटाव के कारण बंगाल पर मुसलमानों की विजय हुई थी। यहाँ पर भी इतिहास की पुनरावृत्ति हुई। सिंध में हिन्दू और बौद्ध मत के अनुयायियों की तनातनी के कारण अरब वालों की जीत हुई थी; पुनश्च पृथ्वीराज और जयचन्द के वैमनस्य के कारण राजपूतों की हार हुई थी।

मुस्लिम शासन काल में धर्म-पूजन धर्म-गीत प्रभृति चालू रहे तथा डोम, योगी प्रमुख नीच जाति के लोग धर्म ठाकुर को पूजते गये। १६ वीं शती में धर्ममंगल की पुस्तकों का हिन्दूकरण हुआ। इसी प्रसंग में बौद्ध विचार की बातों को उधेड़ कर हिन्दू आदर्श और भाव-विचार जनता के सम्मुख रखे गये।

प्राकृत ग्रन्थों में वर्णित उत्सवों की सूची

जैनियों के प्राकृत भाषा में लिखित शास्त्र-ग्रंथों में संभवतः उन दिनों देहाती क्षेत्र में प्रचलित नाना प्रकार के धर्म संबंधित उत्सवों की तगड़ी सूची मिलती है। यद्यपि इस सूची के बनाने में संभवतः कहीं-कहीं नमक-मिर्च का उपयोग अधिक किया गया है, तथापि ऐसा मालूम होता है कि उन दिनों की ग्रामीण जनता आधुनिक काल के देहाती लोगों के समान अतीव सरल विश्वासी थी, तथा उत्सव मनाने की प्रवृत्ति उसमें इतनी प्रबल थी कि वह प्राकृतिक देव-देवियों से संबंधित उत्सवों के अतिरिक्त ताल-तलैया, कूएँ-बावली, पेड़-पौधों के सम्मान में भी समारोह के साथ उत्सव मनाती थी। एक साथ भोजन-पान और एक

दूसरे के साथ मिल-जुल कर वे ऐसे अवसरों पर सामाजिकता के सुख का अनुभव करते थे। पुनश्च इसी प्रसंग में नृत्य-गीत, कविता-पाठ प्रभृति देख और सुन कर उनका हृदय आवेश से भर जाता था तथा थोड़ी देर के लिये वास्तव के जीवन की पिसाई और कुटाई दुःख-दरिद्रता भूल कर वे जीवन को सार्थक मानने लगते थे।

(१) इंद्र मह=इंद्र भगवान् के सम्मान में उत्सव;
(२) स्कंद मह=कार्त्तिकेय के सम्मान में उत्सव;
(३) रुद्र मह=शिव जी के सम्मान में उत्सव;
(४) मुकुन्द मह=कृष्ण भगवान् के सम्मान में उत्सव;
(५) भूत मह=प्रेतों के सम्मान में उत्सव;
(६) यक्ष मह= यक्षों के सम्मान में उत्सव;
(७) नाग मह=नागों के सम्मान में उत्सव:
(८) स्तूप मह=डूह या टीले के सम्मान में उत्सव;
(९) चैत्य मह=मंदिर या मठ के सम्मान में उत्सव;
(१०) रुक्ख मह=पेड़ के सम्मान में उत्सव;
(११) गिरि मह=पर्वत के सम्मान में उत्सव;
(१२) दरि मह=कन्दरे के सम्मान में उत्सव;
(१३) अगड़ मह=कूएँ के सम्मान में उत्सव;
(१४) तड़ाग मह=पोखरे के सम्मान में उत्सव;
(१५) दह मह=तलैये के सम्मान में उत्सव;
(१६) नदि मह=नदी के सम्मान में उत्सव;
(१७) सर मह=तालाब के सम्मान में उत्सव;
(१८) सागर मह=समुद्र के सम्मान में उत्सव;
(१९) आगर मह=खान-खदान के सम्मान में उत्सव;[1]।

नायाधम्म कहाओ में जो सूची पायी जाती है उसमें कुछ पृथकता है। रुद्रमह के साथ ही 'सिवेयत्ता' या शिव-यात्रा का उल्लेख हुआ है; फिर

---

[1] भगवती सूत्र, ९।३३; अन्तगड०, पृष्ठ २७; अचारांग, २।१।२।२ इत्यादि;

'वेसमण यत्ता' या वैश्रवण (कुवेर) यात्रा की बारी आती है; अन्त में 'पव्वम यत्ता' (पर्वत यात्रा) के बाद ही 'उज्जान यत्ता' या उद्यान यात्रा का नाम लिया गया है[1]।

ऊपर दी हुई सूची का विश्लेषण करने से मालूम होता है कि प्राचीन काल के लोकोत्सव चार अलग-अलग विभागों में विभक्त थे—

(१) देवताओं के सम्मान में मनाये जाने वाले उत्सव, जैसे इन्द्र मह, रुद्र मह इत्यादि;

(२) अपदेवताओं को प्रसन्न करने के लिये मनाये जाने वाले उत्सव, जैसे भूत मह, यक्ख मह इत्यादि;

(३) स्वर्गगत किसी महात्मा के सम्मान में मनाये जाने वाले उत्सव, जैसे स्तूप मह, चैत्य मह इत्यादि;

(४) प्राकृतिक वस्तुओं के सम्मान में मनाये जाने वाले उत्सव, जैसे नदी मह, वृक्ष मह, गिरि मह प्रभृति।

लङ्का में बुद्ध भगवान् की दंत-यात्रा

पाँचवीं शती के प्रारंभ में चीनी यात्री फा-हियेन भारत की यात्रा समाप्त कर घर लौटते समय कुछ दिनों के लिये वह लंका में ठहर गया। उस समय उसे वहाँ की दंत-यात्रा देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उसने अपने भ्रमण-वृत्तान्त में इस जन-यात्रा का आँखों देखा हाल लिख छोड़ा है। संक्षेप में अब उसी का वर्णन हो रहा है।

फा-हियेन का कहना है कि प्रति वर्ष तीसरे महीने के बीचोबीच (जेठ की पूर्णिमा?) समारोह के साथ यह उत्सव राजधानी में मनाया जाता था। जलूस निकलने के दस दिन पहले सजे हुए हाथी की पीठ पर राजसी ठाठ से बैठा हुआ एक प्रिय-दर्शन घोषक नगाड़ा पीट कर इसकी सूचना देते हुए राज-मार्ग से होकर चला जाता था। घोषक व्याख्यान देने में बड़ा निपुण होता था।

---

[1] ११।८७;

घोषणा करते समय वह प्रायशः बोधिसत्त्वों ने अपने पूर्व जन्मों में त्याग के जो अनुपम नमूने दिखाये थे तथा बुद्ध बनने पर उनकी अनोखी कृतियों का विस्तृत विवरण देता जाता था। इस प्रकार जहाँ-जहाँ उसका हाथी रुक जाता था, वहाँ उसका व्याख्यान सुनने के लिये भारी भीड़ जम जाती थी। व्याख्यान के अंत में वह दंत-यात्रा की घोषणा करता था तथा दर्शकों से सड़कों की सफाई-वफाई तथा फूल-पत्तियों से उनकी साज-सजावट करने का निर्देश देता था। इस घोषणा के बाद राजमार्ग की दोनों बगलों में बोधिसत्त्वों की ५०० मूर्तियाँ पधरायी जाती थीं। मानव बन कर प्रकट होने के अतिरिक्त जब-जब भगवान् ने हाथी, घोड़ा या हिरण के रूप में संसार में आविर्भूत हुए थे, उन प्राणियों की मूर्तियाँ भी वहीं रखी जाती थीं। कुल मूर्तियाँ जीती-जागती-सी मालूम पड़ती थीं। नियत दिन पर बड़ी धूमधाम के साथ सवारी निकाली जाती थी।

जलूस बीच सड़क से होकर धीमी चाल से आगे बढ़ता था। उस समय चारों ओर से उस पर फूल और माला की निरंतर वर्षा होती थी। बड़ी देर में वह अभय गिरि विहार में पहुँचता था। वहाँ एक सजे हुए मंडप में यति और गृही एकत्र होते थे। रात-दिन अविरत उस पवित्र दंत की अर्चा होती रहती थी। फूल-माला चढ़ाने के अतिरिक्त धूप-दीप से उसकी आरती की जाती थी। ९० दिन के बाद वह दंत फिर से राजधानी में लौटा लाया जाता था।

महाकालोत्सव

वज्रपुर के वज्रनाभ नाम के दानव-पति की पुत्री प्रभावती कृष्ण भगवान् के पुत्र प्रद्युम्न को व्याहना चाहती थी। किन्तु प्रतिबंध यह था कि दानव-पति की आज्ञा से कोई भी बाहरी जीव वज्रपुर के भीतर जा नहीं सकता था; फिर उसका पिता अपनी बेटी का स्वयंवर करना चाहता था। ऐसी दशा में प्रद्युम्न, साम्ब प्रमुख यादवों ने एक नाटक-मंडली का संघटन किया तथा वे वज्रपुर के अड़ोस-पड़ोस में खेल दिखाने लगे। रामायण का कथा-भाग लेकर इन नाटकों की रचना की गयी थी। अभिनय देखकर दानव लोग मुग्ध हो गये। नाटक-मंडली की प्रशंसा सुनकर वज्रनाभ ने उसे वज्रपुर में खेल दिखाने का आमंत्रण

दिया। इसी समय उसने शिव भगवान् के सम्मान में महाकालोत्सव नाम के एक समारोह का आयोजन किया था। इस अवसर पर मंडली के सदस्यों ने गंगावतरण, रंभाभिसार प्रभृति नाटकों का अभिनय किया था। दानव लोग खेल देखकर मोहित हो गये। दूसरे दिन संध्या समय जब प्रभावती को एक सहेली राजकन्या के महल में फूल-माला ले जाती थी, उसी समय प्रद्युम्न भौंरा बनकर उन फूलों पर गुनगुनाते हुए प्रभावती के महल में घुस पड़ा और उससे गन्धर्व-विवाह कर लिया[1]।

अभी तक हमारे देश में ऐसे सरल-विश्वास नर-नारी हैं, जिनकी अटूट प्रतीति है कि प्राचीन भारत के घर-घर में श्री रामचन्द्र के समान आदर्श शासक, युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी, भीष्म की भाँति जितेन्द्रिय पुरुष, तथा सीता, सावित्री और दमयन्ती जैसी कुल स्त्रियाँ पतिव्रता होती थीं। ऐसे विचार प्रकट करते समय क्षण भर के लिये वे भूल जाते हैं कि वे दोष और गुण को एक साथ सान कर बनाये हुए मिट्टी के मानव नहीं थे, प्रत्युत कवि-कल्पना की विलक्षणता जन्य आदर्श चरित्र थे, जिनके पदांक का अनुसरण कर करोड़ों भारतीय आज तक चलते हैं। आज कल जैसे सभी भारतीयों में गाँधी महाराज की सच्चाई और रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा नहीं पायी जाती है, उसी प्रकार प्राचीन काल में भी स्त्री-पुरुष के समान समय-समय पर एक-आध महामानव ऐसे उत्पन्न होते थे, जो जिस मार्ग से चलते थे, वहाँ हरियाली छा जाती थी। जिस प्रकार आधुनिक काल के भारतीय समाज में भले आदमी भी हैं और बुरे मनुष्य हैं, उसी प्रकार प्राचीन काल के भारतीय समाज में भले-बुरे सभी प्रकार के मनुष्य होते थे।

मेले और उत्सव प्राचीन भारतीय समाज के जीते-जागते प्रतीक थे। सामाजिकता के सुख का अनुभव करने के अभिप्राय से प्रतिदिन की जीवन-यात्रा में थोड़ी-सी विलक्षणता, कुछ विचित्रता का मजा चीखने के अभिप्राय से धनी और दरिद्र, विद्वान् और अपढ़, भले और बुरे सभी प्रकार के मनुष्य इनमें सम्मिलित होते थे—सभी श्रेणी के मनुष्यों के ऐसे जमघटों में आश्चर्य

---

[1] हरिवंश, ९१,४—९४, १३;

नहीं, कुछ लोग ऐसे भी होते थे जो इन्हें अपनी ओछी प्रवृत्तियों को चरितार्थ करने का उत्तम साधन मानते थे। परन्तु ऐसे मनुष्यों की करनी के कारण उत्सवों के उच्च आदर्श पर स्यात् ही ठेस पहुँचती थी।

पुनश्च किसी-किसी उत्सव के मनाने के प्रसंग में जो गाली-गलौज करने, सुरा-पान करने और जूआ प्रभृति खेलने की रीति-नीति थीं—संभवतः ये सब इनके साथ पीछे से जुट गये। यह भी समव है कि कहीं-कहीं अनार्य उत्सवों के ठाट में आर्य ढंग के धार्मिक कृत्यादि खपा दिया गया। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से इस विषय पर ठीक-ठीक सम्मति प्रकट करना कठिन है। तथापि यह बात स्पष्ट है कि ये सब रीतियाँ उत्सवों का बहिरंग थीं तथा उनसे उनके अंतरंग पर चोट नहीं पहुँचती थी।

अन्त में यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि प्राचीन काल के सभी भारतीय माला ठक्-ठकाते या ज्ञान-मार्ग के अथक पथिक थे। कितना निराधार है ऐसा अनुमान! यह बात सच है कि कुछ इने-गिने लोग निवृत्ति मार्ग को अपना कर चिरन्तन सत्य की खोज में लगे रहते थे। इसके विपरीत रहे प्राचीन भारत के अनगिनत जन-जनार्दन, जो थोड़ी देर के लिये दुःख-संकट और आधि-व्याधि से घिरी हुई जीवन-यात्रा को मधुमय, आनंदमय बनाने के लिये सदा उत्सुक रहा करते थे। अतः उत्सवों के अन्तःस्तल में धड़कता था जाग्रत गण-देवता के प्राणों का सुस्पष्ट स्पन्दन, जिन्होंने संघ-बद्ध कर जाति को संजीवित रखा। अन्ततोगत्वा हम यह देखकर आश्चर्य-चकित रह जाते हैं कि सर्वकाल और सभी देशों के मानव-समाज की मनोवृत्ति एक-सी रह चुकी है।

उपसंहार

ऊपर कहा जा चुका है कि उत्सव और मेले मुख्यतः धर्म से संबद्ध हैं तथा धर्म-हीन समाज में उत्सव की गुंजाइश कम है। लोकोत्सवों के वर्णन-प्रसंग में सरसरी तौर पर अनजाने हम लोगों ने अपने देश के हजारों वर्ष के पुराने धार्मिक विकास के इतिहास का अध्ययन कर लिया है। संक्षेप में अब उसी का दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

सामुदायिक धर्म

प्रारंभिक दशा में धर्म सामुदयिक तथा स्थानीय था। एक समुदाय अपने निवासस्थान में भिन्न-भिन्न प्राकृतिक तत्त्व तथा भद्दी मूर्तियों को पूजने के अतिरिक्त पेड़,-पौधे, नदी-पर्वत, ताल-तलैये इत्यादि की अर्चा करता था। कुछ जन-जातियाँ जन्तुओं को पूजती थीं, तो कुछ भूत-प्रेत, पिशाच प्रभृति अप-देवताओं का पूजन करती थीं। उनका ऐसा विश्वास था कि पेड़-पौधे नदी-पर्वत प्रभृति प्राकृतिक चमत्कारों का एक-एक अधिष्ठाता देवता होता था। उसी को प्रसन्न करने के लिये वे मद्य-मांस का भोग चढ़ाते तथा उनको वश में लाने के लिये वे जादू-टोना प्रभृति भी करते थे। इसके साहित्यिक प्रमाण उत्तर काल में रचित भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के प्राचीन ग्रंथों में बहुत-से मिलते हैं।

वृक्ष-पूजन

मोहिंजोदड़ो के खंडहरों की खोज करने से जो मूर्तियाँ और ठप्पे प्रभृति मिले हैं, उनकी जाँच-पड़ताल करने से पता चला है कि उन दिनों पश्चिमी पंजाब, सिंध और बिलोचिस्तान प्रान्तों के निवासी मूर्ति-पूजन करने के अतिरिक्त पेड़-पौधे तथा जीव-जन्तुओं की भी अर्चा करते थे। जैन अंगों के अनुसार नदी-पर्वत और ताल-तलैयों के सम्मान में समय-समय पर जो समारोह मनाये जाते थे, उन की चर्चा ऊपर हो चुकी है। पालि साहित्य में वृक्षों को पूजने की प्रथा का निरंतर उल्लेख हुआ है। कई बार कहा गया है कि बोधिसत्त्व ने 'रुक्ख-देवता' बन कर

जन्म लिया था [१]। व्यापार करने के लिये परदेश जाने के पहले एक बनिये ने बरगद के पेड़ के अधिष्ठाता देवता को मनाने के लिये पशु-बलि चढ़ाया [२]। श्रावस्ती में आनन्द के लगाये हुए एक पेड़ को पूजने के लिये बहुत से देहाती भिक्खु दल-बद्ध हो कर वहाँ पहुँचे। बुद्ध भगवान् ने उनकी करनी की निन्दा नहीं की [३]। एक बरगद के पेड़ की अधिष्ठाता देवता को प्रसन्न करने के लिये राज-पुरोहित ने अपने यजमान काशी-राज को एक हजार बन्दी राजकुमारों की आँखें निकलवा कर उन्हें चढ़ाने का सुझाव दिया था [४]। जातक ग्रंथों का कहना है कि लोग अधिकतर बरगद के पेड़ को पवित्र मानते थे [५]; इस प्रसंग में आम [६] और ढाक या पलास [७] के पेड़ों का भी उल्लेख हुआ है।

रामायण में पूजने के योग्य वृक्षों का नाम चैत्य दिया गया है। इनके तने के चारों ओर चबूतरे होते थे तथा इनकी बगल में झँडे लहराये जाते थे [८]। रामचन्द्र के प्रस्तावित राज्याभिषेक के अवसर पर इनकी साज-सजावट की गयी थी [९]। राही इनकी परिक्रमा कर प्रणाम करते थे [१०]। महाभारत में यद्यपि चैत्य वृक्ष पवित्र माने गये हैं [११], तथापि युद्ध छिड़ने पर उन्हें काट डालने का निर्देश दिया गया है [१२]। श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन ने गिरिव्रज के निकट लोक-मान्य एक चैत्य वृक्ष के घेरे पर चढ़ाई कर दी थी [१३]। मनु ने स्नातकों को निर्देश दिया है कि मार्ग की बगल में स्थित नामी वृक्षों की प्रदक्षिणा करते हुए वे चलें [१४]। स्कन्द पुराण में पीपल के पेड़ को पूजने का विस्तृत विधान दिया गया है [१५]। इसके अतिरिक्त पलास या ढाक [१६], तुलसी [१७], बेल [१८] बरगद [१९] प्रमुख पेड़ों को पूजने का भी निर्देश दिया गया है।

---

[१] जातक, १।२२१; ३२८ इत्यादि, [२] जातक, १।१६९; [३] जातक, २।३२१; [४] जातक, ३।१५९; [५] जातक, ४।४७४; १५३; १।४३२ इत्यादि, [६] जातक, ३।२३; [७] जातक, २।१०४; [८] ४।१६।२४; [९] २।६११; [१०] २।१७।१६; १००।६१; [११] १२।६९।४१-४२; [१२] १२।५९।६२; [१३] २।२१।१४; [१४] ४।३९; [१५] काशीखण्ड, ७।२७; [१६] नागरखण्ड, २४८; [१७] नागर खण्ड, २४९; [१८] नागर खण्ड, २५०; [१९] द्वारका माहात्म्य; २९।३३-३५;

पर्वत-पूजन

ऊपर रैवतक मह का वर्णन हो चुका है। फिर महाभारत में एक जगह कहा गया है कि सुभद्रा देवी ने रैवतक पर्वत की अर्चा की[1]। व्रज मंडल में कृष्ण भगवान् ने इन्द्र मह के स्थान में गोवर्धन-पूजन या गिरि-यज्ञ मनाने की प्रथा चलायी थी[2]।

नदी-पूजन

राम और लक्ष्मण के साथ अयोध्या से निर्वासिता सीता ने गंगा पार करते समय मनौती की थी कि १४ वर्ष के बाद सकुशल घर लौटने पर वह लाख गाय, हजार मटकी सुरा और पुलाव चढ़ा कर गंगा जी की पूजा करेगी[3]। उसी प्रकार यमुना पार करते समय उसने हजार गाय और सौ घड़े सुरा चढ़ा कर उस नदी को पूजने की मनौती की थी[4]।

आगे चल कर वृक्ष-पूजन, नदी-पूजन प्रभृति प्रथाएँ हिन्दू धर्म में सम्मिलित हो गयीं, परन्तु उनकी मूल प्रकृति में हेर-फेर हो गया।

भूत-प्रेत

ऊपर इस विषय का उल्लेख हो चुका है कि प्रारम्भिक दशा में भिन्न-भिन्न समुदाय वाले बहुत से प्राकृतिक चमत्कारों को पूजने के अतिरिक्त भूत-प्रेत प्रमुख कुछ अमानुषिक जीवों के अस्तित्व में विश्वास करते थे। साथ ही कहा जा चुका है कि उनका ऐसा विश्वास था कि मानव जैसा नदी, पर्वत, वृक्ष प्रभृति में भी आत्मा विराजती है; वे उसी की अर्चा करते थे। उनकी ऐसी प्रतीति थी कि आत्मा निरंतर किसी जड़ पदार्थ में आबद्ध नहीं रहती। वह सदा मुक्त वायु जैसी रमती फिरती है। सोते समय मनुष्य का शरीर तो बिस्तरे पर लेटा पड़ा रहता है, परन्तु उसकी आत्मा सारे विश्व का फेरा लगाती है। पुनः सपने में जब वह अपने स्वर्गीय कुटुंबों के साथ भेंट-मुलाकात करने तथा उनसे संसर्ग और

---

[1] १।२२०।६-७; [2] विष्णु पुराण, ५।१०। ४४......;
[3] २।५२।८७-६०; [4] २।५५।२०;

संपर्क स्थापित करने लगा तब उसके मन में यह विश्वास जम गया कि सभी जीव में एक एक आत्मा विराजती है, जो स्वभाव का मुक्त है। क्रमशः स्थूल शरीर के नाश होने पर एक सूक्ष्म शरीर में आत्मा को टिकाया गया। इस रीति से धीरे-धीरे सारी पृथ्वी भूत-प्रेत-पिशाच प्रमुख अमानुषिक जीवों से छा दी गयी। आदिम मानव में जागतिक विषयों से परे उठने की शक्ति नहीं थी। अतः जीवित-काल में जिस मनुष्य का चरित्र जैसा रहा, मरने पर भी उसकी आत्मा को उसी चरित्र का चोगा पहना कर भूत-प्रेत इत्यादि के दो विभाग किये गये—भले और बुरे। दोनो को संतुष्ट करने की आवश्यकता दीख पड़ी। सांसारिक सुख-सुविधाओं की अभिवृद्धि के लिये शान्त भूत-प्रेतों को तृप्त किया जाने लगा। पुनः आने वाली विपत्तियों को टालने के लिये दुष्ट भूतों की पूजा होने लगी। इसी प्रकार से क्रमशः श्राद्ध, तर्पण प्रभृति कृत्यों का आविर्भाव हुआ।

द्रविड़ तथा और कुछ अनार्य जातियाँ भूत-प्रेतों के अस्तित्व में विश्वास करती थीं। वैदिक काल में आर्य लोग कुछ अमानुषी जीवों के अस्तित्व में विश्वास करने के अतिरिक्त अपने स्वर्गगत पितरों को पूजते थे तथा उनके सम्मान में पिण्ड-पितृ-यज्ञ प्रभृति करते थे। उत्तर काल में रचित पालि साहित्य में पेत-वत्थु और विमान वत्थु में बुरी और भली आत्माओं की करनी का वर्णन हुआ है। जातक ग्रंथों में बनारस नगर के बाहर स्थित एक भुतहा मकान का उल्लेख हुआ है[१]। फिर कहा गया है कि भूत-प्रेत पेड़ों पर रहते हैं[२]; एक जगह यक्षों की आकृति-प्रकृति का वर्णन हुआ है[३]। इनके बारे में कहा गया है कि वे ताड़ की पत्ती और लोहे के मकानों से डरते हैं[४]। प्राकृत साहित्य में उवासग दसाओं में एक पिशाच का विस्तृत विवरण दिया गया है[५]। उत्तराध्ययन सूत्र में पिशाच, भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, गंधर्व प्रभृति को व्यन्तर देवता माना गया है[६]।

विष्णु पुराण का कथन है कि पूतना-निधन के उपरान्त नन्द महाराज और यशोदा ने श्रीकृष्ण के बाल-दोषों का नाश किया। इस प्रसंग में कहा

---

[१] २।१९; [२] ३।२४; [३] ४।३४; [४] ४।४६२; [५] २।६४; [६] ३६।२०६;

गया है कि यशोदा ने बाल कृष्ण के शरीर के चारों ओर गाय की पूँछ घुमा दी और नन्द ने मंत्र-पाठ करते हुए गोबर का चूर छिटकाया[1]। स्कंद पुराण के प्रभास क्षेत्र माहात्म्य में भूत, प्रेत और पिशाचों के रहने-बसने के स्थानों की लम्बी सूची दी गयी है[2]। पद्म पुराण के पाताल खंड में कहा गया है कि एक दिन जब बालक रामचन्द्र जी खेल रहे थे तब एक ब्रह्म-राक्षस उन पर सवार हो गया[3]। उसी पुस्तक में और एक स्थान पर कहा गया है कि पौराणिक लोग भूत-ग्रस्त मनुष्यों को स्वस्थ कर सकते हैं[4]। उक्त पुराण के उत्तर खंड में एक राक्षस की करनी का वर्णन किया गया है। उसने ग्राम-पाल के बेटे को चट कर गया था[5]। पुनः उसी पुराण के सृष्टि खंड में जिन-जिन कर्मों के करने से मनुष्य मरने पर भूत बनते हैं तथा उस दशा से मुक्ति मिल सकती है, उसका विशद् वर्णन हुआ है[6]। वराह पुराण में मृत्यु के अनन्तर प्रेत बनने से छुटकारा मिलने के कुछ नुसखे दिये गये हैं[7]। भागवत पुराण का कथन है कि भूत-प्रेत अँधेरे में रमते-फिरते हैं[8]।

थोड़े में सभी प्राचीन ग्रन्थकारों का कहना है कि कुकर्म करने ही से मनुष्य मरने पर भूत-प्रेत-पिशाच प्रभृति बनता है। इस प्रकार उन्होंने कर्मफल के सिद्धान्त पर बल दिया है। इन अमानुषिक जीवों को हिन्दू धर्म में सम्मिलित हो जाने पर वे शिव जी के गण बन गये।

जादू और टोना

जब कुछ रहस्यमय उपायों के द्वारा लुक-छिपकर मनुष्य अपने उद्देश्य को पूरा करने की चेष्टा करता है, उसी प्रक्रिया का नाम जादू या टोना है। प्रायशः सभी आदिम निवासी जादू में विश्वास करते थे। कुछ लेखकों की सम्मति है कि प्रारंभिक दशा में जादू ही से धर्म की उत्पत्ति हुई थी। धर्म और जादू एक विषय में मिलते-जुलते हैं। वह यह है कि दोनों अलग-अलग ढंग से

---

[1] ४।४।१२; [2] १६७।२२-६२;११०-१७; [3] ७१।२१...; [4] ७०।४;
[5] १८५।४०...; [6] ३२।१...; [7] १७४।२२-४०; [8] ३।१४।२१;

मानव की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते हैं। जादू इस विचार से किया जाता है कि मानव और वस्तुओं में एक-रसता है, तथा उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये कृत्यादि द्वारा दोनों प्रभावित किये जा सकते हैं। किन्तु प्रारंभिक दशा में जादू से धर्म की उत्पत्ति हुई थी·—यह सिद्धान्त मान लेने में कुछ हिचक-सी आती है। धर्म द्वारा श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, विश्वास प्रभृति सद्‌गुणों का विकास होता है; इसके विपरीत जादू द्वारा हम किसी विरोधी तत्त्व को अपने वश में लाने की चेष्टा करते हैं। धर्म अपने अनुयायियों को विनय का पाठ पढ़ाता है, जादू मनुष्य के मन में प्रभुता तथा अभिमान का भाव भरता है। अतः यद्यपि जादू और टोने से धर्म की उत्पत्ति होने का सिद्धान्त संशयात्मक है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि दोनों का विकास अति प्राचीन काल में हुआ था। अभी तक अशिक्षित जनता का जादू में प्रगाढ़ विश्वास है, अभी तक लोग यंत्र, ताबीज इत्यादि धारण करते हैं, झाड़-फूँक, अभिचार, वशीकरण प्रभृति क्रियाएँ करवाते हैं तथा तिरमुहानी और चौमुहानियों पर प्रायशः फूल-माला, कागज़ की बनी हुई पालकी में पैसे रखकर जादू करते हैं।

प्राचीन साहित्य में ऋग्वेद में जादू के कुछ मंत्रादि दिये हुए हैं। अथर्व वेद में बीमारी दूर करने[1], पिशाच और राक्षसों के बहिष्कार करने[2], मानव के शत्रु अप्सरा और गंधर्वों द्वारा बहकाये जाने से रोकने[3], आयु बढ़ाने[4], विवाह के अवसर पर दोहराने[5], स्त्रियों को वश में लाने[6], पुरुषों को अभिभूत करने[7], सौतिनों के नाश करने[8] के मंत्र, जादू प्रभृति अधिकतर मिलते हैं। अथर्व वेद के कौशिक सूत्र के अतिरिक्त ऋग्विधान, सामविधान तथा षड्‌विंश ब्राह्मण में भी इस प्रकार के मंत्र मिलते हैं। पालि साहित्य में दीघ निकाय[9] और खुद्दक पाठ में साँपों के डँसने तथा भूत-प्रेतों की चढ़ाई से बचने के यंत्र-मंत्रादि दिये हुए हैं। उसी प्रकार गरुड़ पुराण में वज्र-पात तथा भूत-प्रेत-

---

[1] ५।२२; ६।१०५; [2] ४।३६; [3] ४।३७; [4] १७।१-३०;
[5] १४।१··; [6] ३।२५; [7] ६।१३०; [8] १।१४· [9] सूत्त ३२;

यक्ष इत्यादि के आक्रमण से बचने के लिये मंत्र दिये हुए हैं[१]। तांत्रिकों का यंत्र, मंत्र, मुद्रा प्रभृति जादू से संबद्ध है।

जंतुओं का पूजन

आदिम निवासी प्राकृतिक चमत्कार तथा तत्त्वों के साथ ही ऐसे भयंकर जानवरों की जिनसे वे डरते थे या जिनसे समुदाय को भलाई पहुँचती थी, अर्चा करते थे। सर्प-पूजन की प्रथा उन दिनों विश्व-व्यापी थी। प्राचीन मिश्र में घड़ियालों का पूजन होता था। मलय में अभी तक बाघ पूजे जाते हैं। इसके विपरीत हमारे देश में गो-पूजन की रीति प्रचलित है। संभवतः यह प्रथा उन दिनों चल निकली थी जब प्राचीन काल के मानव यायावर रहे और प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये वे गायों पर निर्भर थे। महिंजोदड़ो के खंडहरों से प्राप्त ठप्पों से पता चलता है कि वहाँ के निवासी गो-जाति की अर्चा करते थे। ऋग्वेद में निर्देश दिया गया है कि गौ मारी न जाय (अघन्याः)[२]। यजुर्वेद के काल में 'गौ की कसम' खाने की रीति चल निकली थी[3]। शतपथ ब्राह्मण में गाय के बारे में कहा गया है कि वह निखिल विश्व का पालन-पोषण करती है[४]। यजमान के लिये गो-मांस खाने की मनाही थी[५]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में गाय को यज्ञ तथा अन्न के समान माना गया है[६]। गो-पथ ब्राह्मण में गौ को वैश्व देवी कहा गया है[७]। साम-विधान में गो-हत्या करने के लिये प्रायश्चित्त करने का विधान दिया गया है[८]। इस प्रकार वैदिक काल से ही गौ पवित्र मानी गयी। पद्म पुराण के पाताल खंड में गो-पूजन का विशद् निर्देश दिया गया है[९]। कुछ लोग गौ को भगवती मानते हैं।

गौ के अतिरिक्त हिन्दू हनुमान् जी का भी पूजन करते हैं। भारत के प्रायः प्रत्येक प्रान्त में हनुमान् जी को आदर की दृष्टि से देखा जाता है। परन्तु पार्जिटर ने प्रमाणित किया है कि प्रारंभिक दशा में हनुमान् आर्येतर द्रविड़ों के

---

[१] १।२०।८; [२] ६।१।६; [३] ६।२२; [४] ३।१।२।१४; [५] ३।१।२।२१; [६] ३।६।८।३; [७] २।३।१६; [८] १।७।७; [९] १६।१७;

देवता थे[५४ अ]। तमिल भाषा में उनका नाम 'अण-मन्ति' या नर वानर था। आगे चलकर आर्येतर द्रविड़ों के साथ जैसे-जैसे आर्यों का संसर्ग और संपर्क गाढ़ा होता गया तैसे-तैसे हनुमान् जी पिछले दरवाजे से वैदिक धर्म में संमिलित हो गये। क्रमशः वृषा-कपि नाम के स्तोत्र की रचना हुई (आ) तथा वह ऋग्वेद के साथ जोड़ दिया गया। उक्त मंत्र से पता चलता है कि कुछ लोगों ने इसका विरोध किया था। परन्तु उनकी एक भी न चली। ऋग्वेद में वृषा-कपि हरे रंग के वानर (हरितो मृगः) माने गये हैं। इन्द्र के प्रिय होने के कारण इन्द्राणी उनसे जलती थी। पौराणिक हिन्दू धर्म ने तमिल अण-मन्ति का संस्कृत हनुमन्त बना कर अपनाया, तथा साधारण बोल-चाल की भाषा में वह हनुमान् बन गये। राम के भक्त अनुचर होने के कारण कवि-गुरु वाल्मीकि ने रामायण में उनका बड़ा यश गाया है। लम्बी पूँछ के होने पर भी (इ) वाल्मीकि ने यद्यपि हनुमान् जी को वाक्यज्ञः, वाक्यकुशलः (ई) विद्वान् (उ), सुमहाप्राज्ञः (ऊ), सुग्रीवस्य सचिवः (ए), मंत्रिसत्तमः (ऐ), सर्वशास्त्रविदांवरः (ओ) प्रभृति विशेषणों से विभूषित किया है, फिर भी आदि कवि ने कहीं भी मारुति (औ) को देवता का आसन नहीं दिया है। पश्चात् तुलसीदास प्रमुख उत्तर काल के कवियों ने हनुमान् जी को पूरापूर देवता बना दिया। बहुत से प्रान्तों में स्त्रियों का बाँझपन दूर करने, विपत्ति को टालने और उनकी कृपा प्राप्त करने के लिये उनसे मनौती की जाती है।

सामुदायिक धर्मों का विस्तृत वर्णन ऊपर दिया गया है, उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि—

(१) आदिम मानव बड़े सरल विश्वासी होते थे। आधुनिक काल के मानव जैसे वे युक्तिवादी या बुद्धिवादी नहीं होते थे। सामान्य रूप से हम लोग अपने अनुभवों को युक्ति की कसौटी पर कस कर उनका वर्गीकरण करते हैं।

(५४ अ) JRAS. १९१३, पृष्ठ ४००; (आ) १०।८६; (इ) ५।५३। ७-८; (ई) ४।३।२४; (उ) ४।३।२७; (ऊ) ४।४।२३; (ए) ४।३।२२; (ऐ) ५।६।१; (ओ) ४।६६।२; (औ) ४।४४।५; ४।६६।२६-३०;

वे कदाचित् ऐसा करते थे। वेद-विरोधी सभी बातों को पुराने समय में छाँट देने की रीति थी;

(२) सामुदायिक धर्मों के देवता आध्यात्मिक नहीं होते थे; वे सरासर जागतिक होते थे;

(३) पूजने का उद्देश्य मुख्यतः सांसारिक सुखों की प्राप्ति या आने वाली विपत्तियों को टालने का होता था।

(४) सामुदायिक धर्मों का उद्भव स्थानीय देवता या प्राकृतिक चमत्कारों को केन्द्र मान कर होता था। अतः ये सब धर्म-मत अधिकतर संरक्षित होते थे। इसलिए इनमें बाहरी लोग सम्मिलित नहीं हो सकते थे। स्वभावतः सामुदायिक-देवताओं के प्रभाव का क्षेत्र किसी एक विशेष समुदाय ही में सीमित रहता था।

वैदिक धर्म की रूप-रेखा

इस दृष्टिकोण से विचार करने से वैदिक धर्म को भी प्रायः सामुदायिक कहना पड़ता है। परन्तु उसकी मूल प्रकृति तथा सिद्धान्तों में ऐसी कुछ विशेषताएं थीं जिनके शाश्वत सत्य की ठोस भीत पर खड़े रहने के कारण हिन्दू धर्म ने उनको अपनाया है, तथा वेदों के इन सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण ही हिन्दू धर्म का अपर नाम सनातन धर्म है। ऐसे तो स्पष्ट है आधुनिक काल में वैदिक देवताओं की बहुत कम चलती है, यज्ञ प्रभृति की चाल प्रायः ठप हो गई है—यहाँ तक कि उच्च वर्ण के सदस्यों में शायद ही कोई वेद पाठ करने या उसके विषय-वस्तु से परिचित होने का कष्ट उठाता है। फिर भी हमारा गर्व है कि हम सनातन धर्मी हैं क्योंकि हमारा हिन्दू धर्म वैदिक मत के इन सिद्धान्तों पर आश्रित है।

यज्ञ-हवन *

वैदिक काल के आर्य यज्ञ-हवन करने पर अत्यधिक बल देते थे। उनका ऐसा विश्वास था कि यज्ञ द्वारा लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार का फल

---

* इस प्रसंग में म० म० पंडित गोपीनाथ कविराज जी की लिखित 'अखंड महायज्ञ' की भूमिका देखिये।

मिलता है। यही कारण है कि वे कल्प-सूत्र में दिये हुये विधि-विधान के अनुयायी होकर विशेषज्ञ पुरोहितों के द्वारा ये सब यज्ञ सम्पन्न करवाते थे। परन्तु यज्ञों का प्रकृत उद्देश्य यजमान को त्याग का महान् पाठ पढ़ाने का होता था। कात्यायन कहते हैं कि देवता के उद्देश में जब किसी द्रव्य पर निज का अधिकार त्याग दिया जाय, उसी का नाम यज्ञ है[१]। उन दिनों त्याग का प्रतीक था नियमानुसार स्थापित, भभकती हुई आग में विधिवत् मन्त्र दोहराते हुए अपने खेत की उपज, जैसे जौ, धान इत्यादि घी के साथ छोड़ना।

जब फल मिलने की आशा से यजमान किसी विशेष देवता को आह्वान या आमन्त्रण देते हुये धधकती हुई आग में घी झोंकता, तब उस क्रिया का नाम 'आहुति देना' था। देवता थोड़े ही से प्रसन्न होते थे। अतः आहुति की मात्रा सदा स्वल्प होती थी।

यज्ञ-हवन करने का दूसरा नाम कर्म-काण्ड था। कर्म दो प्रकार के माने जाते थे—सकाम और निष्काम। अपनी या अपने परिवार वालों की भलाई के लिये यज्ञ-हवन किया जाता था, तब तो उसका नाम सकाम कर्म दिया जाता था, क्योंकि इसका फल यजमान को मिलता था। वेदों में इस ढंग के कर्मों की भरमार है। इसका विपरीत था निष्काम कर्म। कर्म करने ही से काम करने वाले को फल प्राप्त होता है। किन्तु जो काम व्यक्तिगत स्वार्थ से परे हो, जो सर्व साधारण के कल्याण के लिये किया जाय या जो कर्त्तव्य या धर्म समझ कर किया जाय, इसका फल कार्य करने वाले पर आरूढ़ न होकर सारे संसार की भलाई करने के लिए उसके कोने-कोने फैल जाता है। प्राचीन काल के मुनिऋषि इसी भावना द्वारा प्रेरित होकर यज्ञादि करते थे।

यज्ञ दो प्रकार के होते थे—गृह्य और श्रौत। साधारणतः प्रत्येक गृही स्वयं या कभी-कभी 'ब्रह्मण्' नाम के पुरोहित की सहायता से 'गृह्य कर्माणि' निभा लेता था। चूड़ा, उपनयन, विवाह, जातकर्म, श्राद्ध प्रभृति इसके अन्तर्गत थे। अश्वमेध, राजसूय, वाजपेय सोम प्रमुख यज्ञ श्रौत माने जाते थे। ये सब

---

[१] श्रौत सूत्र, १।२।२;

यज्ञ सम्पन्न करने के लिये बहुत साधन, पुरोहितों के जत्थे, व्यापक प्रबन्ध प्रभृति की आवश्यकता होती थी। ऐसी दशा में केवल बड़े-बड़े राजे-महराजे ही ये सब यज्ञ कर सकते थे।

गृह्य कर्म का एक महत्त्व पूर्ण भाग था वैश्वदेव कर्म या पंच महायज्ञ था। प्रति दिन स्वयं भोजन करने के पहले वैदिक काल का प्रत्येक गृहस्थ सारे विश्व के जीवों को स्मरण करते हुए अन्न देता था। इसमें च्यूँटी से लेकर पेड़-पौधे तक सम्मिलित थे। गृहस्थी करते समय इच्छा न रहने पर भी गृहस्थों को जीव-हत्या जैसी पाप करना पड़ता है। ऐसे छोटे-मोटे पापों के त्तालन के लिये यह यज्ञ प्रतिदिन करने की विधि थी। इस रीति से वैदिक काल में जीव मात्र के प्रति दया की भावना उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता था। आधुनिक काल में भी प्रत्येक हिन्दू भोजन करने के पहले प्रतिदिन पंच-बलि देता है।

वैदिक देवता

समग्र सृष्टि की विचित्रता को नियंत्रित और संचालित करने वाली सूक्ष्म, अप्रत्यक्ष तथा निगूढ़ शक्तियों का नाम देवता है। वैदिक काल के आर्य यज्ञ-हवन करके देवताओं को प्रसन्न कर अपनी कन-कामना पूरी करते थे। निरुक्त के अनुसार मुख्य देवता तीन थे[1]। भूलोक में अग्नि, भुवर्लोक में वायु तथा स्वर्लोक में सूर्य। अन्यान्य सभी देवता इनसे निम्न थे। ऋग्वेद में एक जगह ३३ देवताओं के अस्तित्व के बारे में कहा गया है[2]। तीन प्रकार के देवता होते थे—आजान, कर्म और आजानज। इनमें से सूर्य, चन्द्र (सोम), वायु, वरुण प्रमुख देवता आजान मान गये हैं क्योंकि सृष्टि के साथ-साथ इनकी उत्पत्ति हुई थी। शेष दो प्रकार के देवता स्वर्ग में अपनी-अपनी सुकृति का फल भोगते रहते हैं। स्वभाव के वे ज्योतिर्मय, साकार तथा वैभवशाली माने जाते थे। श्रद्धालु तथा धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को इनका दर्शन मिलना दुर्लभ नहीं था।

---

[1] ऋग्वेद; १।१६४।४६ से मिलान करो। [2] १।१३९।११;

यद्यपि ऋग्वेद के दशम मंडल में सौतिनों पर शेत्र गॉठने[१], बीमारी के चंगुलों से छुटकारा मिलने[२], अमंगल के नाश करने[३], प्रभृति के कुछ मंत्र पाये जाते हैं, तथापि ऐसा मालूम होता है कि वृक्ष-पूजन, नदी-पूजन प्रभृति की प्रथाएँ उत्तर काल में पिछले दरवाजे से वैदिक धर्म में समा गयीं इस प्रकार वे आर्येतर लोगों के प्रभाव के द्योतक थे। उन दिनों संभवतः मंदिर बनवा कर मूर्तियों को पूजने की प्रथा नहीं थी।

यजुर्वेद के काल में रुद्र और विष्णु की प्रधानता स्थापित हो गयी तथा वर्ण-विभाग की प्रथा भी ठीक रीति से चालू हो गयी। इन्हीं दिनों संभवतः कुछ व्यवसायिक जातियाँ भी बन गयी थी।

वैदिक काल में शूद्रों के साथ जो बर्त्ताव किया जाता था; उसकी कड़ी समालोचना की जाती है। कहा जाता है कि इस प्रकार विजित जनता की एक बड़ी भारी संख्या उस धर्म को मान कर शॉति प्राप्त करने से बंचित रही। बीसवीं शती के एक लोक-तंत्र राज्य की प्रजा होते हुए हमारे लिये ऐसा सोचना बिलकुल स्वाभाविक हैं। किन्तु बौद्ध बनने के पहले जैसे उपसंपदा लेने की आवश्यकता और ईसाई बनने के लिये बपृतिस्मा होने की आवश्कता है, उसी प्रकार विधानानुसार संस्कार प्राप्त कर जब तक कोई मनुष्य द्विज नहीं बनता था, तब तक वह वैदिक धर्म का अनुयायी नहीं बन सकता था। मुख्यतः जन्म के कारण आर्येतर शूद्रों के लिये द्विज बनना संभव नहीं था; अतः वे वैदिक धर्म में सम्मिलित नहीं हो सकते थे। युक्ति-युक्त होने पर भी यह मानना ही पड़ेगा वैदिक धर्म बड़ा संरक्षित धर्म था जिसे केवल आर्य जाति के लोग ही मान सकते थे। ऐसी दशा में शूद्र प्रमुख आर्येतर जन-जातियाँ अपना अपना सामुदायिक धर्म को मानते तथा उससे संबद्ध व्रत और उत्सवों को मनाते थे। लक्ष्य करने का विषय यह है कि शासक जाति, आर्यों की ओर से विजित जन-जातियों के धार्मिक विश्वास या उत्सवादि के मनाने पर किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं लगायी गयी। शूद्र तथा आर्येतर जन-जातियों के अतिरिक्त स्वयं आर्यों में भी कुछ लोग ऐसे थे जो

---

[१] १४२; १२६; [२] ६७; १३७ इत्यादि; [३] १२५; १६४;

इन्द्र-अग्नि प्रमुख वैदिक देवताओं को नहीं मानते[1], न यज्ञ-हवन ही करते[2] और न मंत्र-पाठ करते थे।[3] पुनश्च कुछ लोग संशय-वादी भी थे[4]। ऐसे लोगों की निन्दा की गयी है। परन्तु उन पर बलात् अपना विश्वास लादने या अत्याचार करने की रीति का पता नहीं चलता। इस प्रकार उन दिनों परोक्ष रीति से धर्म के विषय में सहनशीलता की भावना का उदय हुआ जो वैदिक काल की संस्कृति की एक विशेषता थी।

ऊपर के वर्णन से प्रतीत होगा कि आनुनिक हिन्दू धर्म ने सामाजिक संघटन की व्यवस्था के अतिरिक्त बहु-देवताओं को मानते हुए भी उनके एकीकरण की प्रवृत्ति, त्याग, भूत-दया तथा धार्मिक सहनशीलता जैसी चार आदर्शों को वैदिक संस्कृति से अपनाया है। हिन्दू धर्म की ये सब आधार-शिलाएँ हैं। इसी लिये हिन्दू धर्म का अपर नाम सनातन धर्म है।

आर्यों का विस्तार

परन्तु कालान्तर में वैदिक धर्म पर काई उगने के कारण उसकी विशुद्धता कुछ-कुछ जाती रही। सप्त-सिन्धु प्रान्त छोड़ कर ज्यों-ज्यों आर्य लोग पूर्व और दक्षिण की ओर बढ़ने लगे त्यों-त्यों अभिनव देवताओं को पूजने वाली तथा अद्भुत रीति-नीतियों को मानने वाली अनगिनत आर्येतर-जन-जातियों के संसर्ग में उन्हें आना पड़ा। सदैव लड़-भिड़ कर आदिम निवासियों को दबा रखना भी संभव नहीं था। अतः आर्य औपनिवेशिकों ने शान्तिपूर्ण उपाय द्वारा उनके बीच आर्य सभ्यता तथा आदर्शों के प्रचार करने का बीड़ा उठाया। क्रमशः बाध्य होकर बहुत से आर्य औपनिवेशिकों ने आर्येतर महिलाओं को ब्याहा। उदाहरण के लिये शुनः शेप की ज्येष्ठता तथा श्रेष्ठता मान न लेने के कारण बिगड़ कर विश्वामित्र ऋषि ने अपने सौ क्षत्रिय पुत्रों में से मधुछन्दस् से बड़े ३० बेटों का देश-निकाला करवा दिया। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि

[1] ऋग्वेद, ५।३२।२; ८।१००।३; [2] ऋग्वेद, १।३३ ४; ७।६।३;
[3] ऋग्वेद १०।१०५।८; [4] ऋग्वेद १०।१२६ इत्यादि;

वे विंध्यगिरि के उस पार जा कर बस गये[१]। ऋग्वेद के काल में कीकट[२] या मगध आर्य-भूमि के बाहर था। संभवतः उस प्रान्त में जाने वाले आर्यों को प्रायश्चित्त करना पड़ता था। शतपथ ब्राह्मण में आर्यों की पूर्व दिशा में बढ़ने का स्पष्ट उल्लेख है[३]। इस प्रसंग में कहा गया है कि "विदेघ के माठव" (विदेह के माधव) के अधीन होकर आर्यों ने सदानीरा (गण्डक)[४] जो कोशल से विदेह को अलग करती थी, पार किया। माधव के साथ उनके पुरोहित गोतम राहुगण भी थे। उसी प्रकार प्राचीन तमिल साहित्य से पता चलता कि धुर दक्षिण में आर्य संस्कृति के प्रचार करनेमें ऋषि अगस्त्य तथा उनके संगियो का बड़ा भारी हाथ था।

बाद में श्री रामचन्द्र जो ने अपनी नीति और बाहुबल से वानर और राक्षसों को अपने वश में ला कर दक्षिण में आर्य संस्कृति का विस्तार किया। पुनः भार्गव वंश के परशुराम और जमदग्नि ने कोंकण, केरल प्रभृति पश्चिमी तट-भूमि पर आर्यां का प्रभाव विस्तृत किया; उसी प्रकार राजस्थान, मालवा और गुजरात प्रमुख प्रान्तों में आर्य संस्कृति के प्रचार करने का श्रेय यादवों को था।

अटकल लगानी असंगत नहीं होगी कि इन सब औपनिवेशिक तथा उनके संगी-साथियों ने कालान्तर में पूर्व और दक्षिण में वहाँ की आर्येतर महिलाओं का पाणि-ग्रहण किया होगा। स्वभावतः इनके वंशधर अपने पिता का धर्म मनाने के साथ-साथ अपनी माता के व्रतादि का पालन करने लगा। संभव है कि वे वैदिक मंत्रादि दोहराने तथा यज्ञ-हवन प्रभृति करने के साथ-साथ आर्येतर देवता तथा भूत-प्रेत आदि को भी पूजने लगे। इस प्रकार जैसे-जैसे समय बीतता गया, तैसे-तैसे धर्म के क्षेत्र में तथा सामाजिक विषयों में क्रमशः आर्य और आर्येतर रीति-नीतियों का कुछ संश्लेषण-सा होता गया।

जात-पाँत खोने के भय से इस प्रकार का विवाह न करने का बुरा परिणाम जो कुछ होता है वह पालि साहित्य की कुछ अजीब कहानियों से स्पष्ट होता है

---

[१] ७।३।१९; [२] ३।५३।१४; [३] १।४।१।१४; [४] एग्लिंग; सायण के अनुसार करतोया;

कोशल देश के शासक ओक्काक (इक्ष्वाकु) के बारे में कहा गया है कि उसने मोह के वश में होकर अपनी बड़ी रानी की पुत्र-पुत्रियों का देश-निकाला करवा दिया। दुःखी होकर वे हिमालय पहाड़ के तराई प्रान्त में बस गये। अन्ततोगत्वा जाति-पाँति खोने के भय से उन्होंने अपनी छोटी सगी बहनों से विवाह कर लिया[1]! राजकुमार उदयभद्द के बारे में कहा गया है कि उसने अपनी सौतेली बहन से विवाह किया था[2]। यद्यपि दसरथ जातक में राम और सीता के भाई-बहन होते हुए भी वे व्याहे गये थे ऐसा कहा गया है[3], तथापि ये सब अपवाद और असाधारण मानना चाहिये। किन्तु जातक ग्रंथों के कथनानुसार मामा, फूफा प्रभृति की बेटियों से उन दिनों लोग प्रायः विवाह करते थे[4]। मिश्र के प्राचीन शासकों के बारे में कहा जाता है कि वे अपने कुल की शुद्धता की रक्षा करने के अभिप्राय से सगी बहनों से विवाह करते थे।

कालान्तर में वैदिक धर्म से कुछ विचारशील व्यक्तियों की तबीयत ऊब गयी। इसका व्यापक आचार और अनुष्ठान, आड़म्बर तथा ढोंग, विशेषज्ञ पुरोहितों का निरंतर बढ़ता हुआ प्रभाव, सर्वोपरि इसकी सामुदायिक संकीर्णता से उनका जी बिलकुल खट्टा हो गया। तब बाहरी ढकोसलों को त्याग कर उनका ध्यान आन्तरिक विषयों पर पड़ा। इसका परिणाम आरण्यक और उपनिषदों की विचार-धारा में दिखाई पड़ता है। आगे चल कर हिन्दू धर्म ने इन दार्शनिक विचारों में से मोक्षवाद, जन्मान्तर वाद तथा कर्म फल के सिद्धान्तों को अपनाया। पुनश्च उत्तर काल में रचित उपनिषदों तथा उसी समय पश्चिमी प्रान्त में प्रचारित भागवत या सात्वत धर्म से भक्तिवाद का सिद्धान्त भी हिन्दू धर्म के साथ सम्मिलित हो गया। व्यावहारिक दृष्टि से आधुनिक हिन्दू धर्म 'भक्ति' शब्द पर आधारित है ऐसा कहने से अत्युक्ति नहीं होगी।

---

[1] दीघ निकाय, १।६२; अपादान, १।६४; सुमंगल विलासिनी, १।२६०; [2] जातक, ४।१०९; [3] जातक ४।१२०; [4] जातक, १।४५७; २।३२४;;६।४८६;

बौद्ध और जैन मतों का आविर्भाव

इन्हीं दिनों पूर्वी प्रान्त में बौद्ध तथा जैन जैसे बहुत-से मतों का प्रचार जोरों से हो रहा था। कहने की आवश्यकता नहीं कि जनता ने इनका स्वागत किया जन्म के कारण वैदिक धर्म में आर्येतर लोगों का स्थान नहीं था। वैदिक धर्म के मानने वालो का ऐसा विश्वास था कि परम श्रेय को प्राप्त करने के लिये वेदोक्त यज्ञ-हवन और मंत्र-पाठ करने की आवश्यकता है अतः विशुद्ध ज्ञान को अपनाने के लिये वे अपने भरसक स्वाध्याय तथा यज्ञादि करने में लगे रहते थे। परन्तु शूद्र प्रमुख आर्येतर जनता के लिये मुख्यतः जन्म के कारण इन उपायों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की सुविधा नहीं थी। ऐसी दशा में जैन•तीर्थंकारों का जप-तप, व्रत-उपवास, ध्यान-धारणा सरीखी स्वावलंबन के द्वारा केवल ज्ञान को विकसित करने की उदात्त वाणी और बुद्ध भगवान् द्वारा प्रचारित आष्टांगिक मार्ग पर चल कर चरित्र के संदेश ने कुछ काल के लिये उसको प्रभावित किया। परन्तु इसका परिणाम शुभ नहीं हुआ। बुद्ध भगवान् ने जन्मान्तर वाद, कर्मफल प्रभृति सिद्धान्तों को मानते हुए भी आत्मा, परमात्मा के बारे में चुप साध लिया था। इसकी सुविधा उठाते हुए कालान्तर में अधिकतर सत्-धर्मी घोर युक्तिवादी और अन्ततः निरीश्वर वादी बनते गये; सदाचारी बनने के बदले अब वे निडर होकर कदाचार की कीच में लोट-पोट करने लगे; विहारों में अलस जीवन बिताने के लालच से प्रेरित होकर अधिकतर नीच श्रेणी के लोग घर-गृहस्थी की झंझट त्याग कर भिक्षु और भिक्षुणी बनने लगे। इसका प्रभाव प्राचीन समाज पर अवश्य पड़ा होगा।

उपर्युक्त त्रुटियां पर ध्यान देते हुए तथा परदेशी कुशान वंशीय शासकों का संरक्षण प्राप्त करने की अभिलाषा से बौद्ध मत का काया-पलट किया गया। बुद्ध देव को भगवान् के आसन पर बैठा, बोधिसत्त्वों का उदाहरण देते हुए त्याग की भावना को बढ़ावा दे, बोधिसत्त्वो की परम्परा की रचना द्वारा अवतार वाद का प्रचार कर, भक्ति पर बल दे तथा तड़क-भड़क के साथ नये-नये उत्सव और समारोह द्वारा जनता की आँखें चौंधिया दे। बौद्ध श्रमणों की फिर कुछ दिन

चलने लगी । परन्तु श्रद्धाहीन विदेशियों के आ मिलने से देश के सामाजिक व्यवस्था में बड़ी उथल-पुथल मच गयी ।

कालान्तर में वैदिक कर्म मार्ग के विरोधी होते हुए भी बौद्ध मत तथा जैन मत के कुछ मोटे-मोटे सिद्धान्त हिन्दू धर्म के साथ हिल मिल गये । भूत-दया कार्यतः दिखाते हुए भी वैदिक धर्म के अनुयायी बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर सैकड़ों जीवों को बलि चढ़ाते थे । उनका ऐसा विश्वास था कि यज्ञों के प्रसंग में जो जीव-हत्या की जाती है, वह हिंसा नहीं । गौतम बुद्ध ने इसलिये कर्म-काण्ड का घोर विरोध किया और जनता के हृदय पर प्रभाव जमाने के लिये उसने नये सिरे से अहिंसा और करुणा की वाणी का प्रचार किया था । तभी से अहिंसा मत भी हिन्दू धर्म का आदर्श बन गया, तथा अभी तक कुछ हिन्दू देवता-पूजन करते समय जीव-बलि न चढ़ाकर फल प्रभृति से वही काम लेते हैं । उसी प्रकार जैन मत के अनुयायियों का तप, अनशन व्रत इत्यादि भी कालान्तर में हिन्दू धर्म के साथ मिल गया । सर्वोपरि महायानी बौद्धों की देखा-देखी भिन्न-भिन्न पौराणिक देवताओं के सम्मान में धूमधाम के साथ धार्मिक उत्सव मनाकर जनता की आँखें चौंधिया देने की प्रथा चल निकली ।

क्रमशः गौतम बुद्ध भगवान् के नवें अवतार माने जाने लगे[१] । तदनुसार वराह पुराण में श्रावण में बुद्ध द्वादशी के व्रत का पालन करने को कहा गया है[२] । इस प्रसंग में उसी पुराण में कहा गया है कि जो मनुष्य सुरूप और सुन्दर बनना चाहता है, वह बुद्ध भगवान् की उपासना करे[३] । ब्रह्माण्ड पुराण में स्पष्ट शब्दों में घोषणा की गयी है—न हिंसा धर्मस्य द्वारम्[४] । बहुधा संसार के बखेड़ों से छुटकारा मिलने की आशा से लोग बौद्ध भिक्षु या जैन साधु (निर्ग्रन्थ) बन जाते थे । लोगों की इस प्रवृत्ति का सामना करने के लिये यति, भिक्षु या संन्यास नाम के चौथे आश्रम की सृष्टि हुई । प्राचीन उपनिषदों में उच्च वर्ण के सदस्यों के जीवन के तीन ही विभागों का उल्लेख हुआ है[५];

---

[१] मत्स्य पुराण, ६७।२४७; [२] अध्याय ४७; [३] ४८।२२; [४] ६३।२६;
[५] छान्दोग्य उप०, २।२३।१;

परन्तु ये तीन विभाग या आश्रम क्रमिक थे कि नहीं यह भी ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता। चतुराश्रम का उल्लेख पहले-पहल उत्तर काल के उपनिषद्, इतिहास और धर्मशास्त्रों में हुआ है।

पुराणों में जैन मत के प्रचार का भी थोड़ा-बहुत उल्लेख हुआ है। ब्रह्माण्ड पुराण में रास्ता चलते समय कीड़े-मकोड़ों को बचा कर सावधानता से चलने का निर्देश दिया गया है तथा पानी छान कर पीने को कहा गया है[1]। अनिच्छाकृत जीव-हत्या के लिये योगियों को चान्द्रायण व्रत का पालन करने को कहा गया है[2]। पुनश्च इन्द्र के सामने कई ऋषियों ने यज्ञ के अवसर पर जीव-हत्या करने की प्रथा की निन्दा की[3]। शिव पुराण में कहा गया है कि जैन साधु अपने साथ एक जल-पात्र और जीवों को हँकाने के लिये तागे की बनी हुई नरम कूँची लिये फिरते हैं तथा माथे पर कपड़े का टुकरा रखते हैं[4]।

उन दिनों हमारे देश में बौद्ध मत का बोलबाला था। अतः बहुतों की ऐसी धारणा है कि उस समय प्राचीन वैदिक धर्म तथा प्राचीनतर सामुदायिक धर्मों का विलोप-सा हो गया था। इसी अनुमान के आधार पर जब रीज़ डेविज़ ने 'बुधिष्ट इण्डिया' नाम की पुस्तक लिखी तब म० म० पंडित हर प्रसाद शास्त्री प्रमुख प्रकाण्ड भारतीय विद्वानों ने उस ग्रंथ के शीर्षक की कड़ी समालोचना की थी। शास्त्री जी के कहने का तात्पर्य यह था कि आकाश मंडल में तैरते हुए बादल जैसे हमारे देश के प्राचीन काल के इतिहास में यद्यपि कभी-कभी बौद्ध मत की प्रधानता स्थापित हो गयी थी, उसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि उस समय ब्राह्मण धर्म का अस्तित्व बिलकुल मिट गया था। अशोक के समय उसके प्रयत्न से थोड़े दिनों के लिये बौद्ध मत का सितारा चमका था। परन्तु उसके राज्यकाल में भी ब्राह्मण मत राजकीय धर्ममत का प्रबल प्रतिद्वन्दी था। फलतः अशोक के मरने के बाद ५० साल भी बीतने नहीं पाये जब कि एक सामवेदीय ब्राह्मण ने मौर्यों का तख्ता उलट दिया तथा एक ब्राह्मण राज-वंश की स्थापना की। उसी प्रकार विदेशी कुशान वंशी कनिष्क के शासन-काल में

---

[1] १।२।७; [2] १७।१५; [3] ६३।६-१६; [4] १।२१।१-२;२४-२६;

नये सिरे से संघटित महायान शाखा का बौद्ध मत बुझती हुई दीप-शिखा के समान सहसा भभक उठा अवश्य; किन्तु ब्राह्मण धर्म ने इसी समय कस कर सर्वास्तिवाद, सौत्रान्तिक, माध्यमक, विज्ञानवाद प्रमुख बौद्ध मतों का खण्डन कर अपने सिद्धान्तों का मण्डन किया। पुनश्च इन्हीं दिनों इधर-उधर बिखरे हुए दार्शनिक तथ्यों का संग्रह कर क्रमशः कई दर्शनों का संकलन हुआ। इनमें से सांख्य दर्शन ने द्विजों के साथ-साथ शूद्रों को भी कैवल्य प्राप्त करने का अधिकारी मान लिया। आर्य तथा म्लेच्छ सभी के लिये प्रारम्भिक दशा में योग दर्शन का द्वार खुला रखा गया। पूर्व मीमांसा में वैदिक देव-देवियों का अस्तित्व प्रमाणित किया गया तथा होली प्रमुख लौकिक त्योहारों को भी मान्यता मिली। इस प्रकार एक केन्द्रीय तथा जातीय राजनैतिक संघटन होने के पहले सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न वर्ण और जातियों के अधिकारों का सामंजस्य करने का प्रयत्न हुआ था।

जातीय धर्म का विकास

जब मानव को जागतिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त हो तभी आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। भोजन, वस्त्र तथा टिकने के स्थान का प्रबंध हो जाने के बाद जब उसे अवकाश मिलता है, तभी वह आत्मा और परमात्मा संबंधित गंभीर विषयों की चर्चा कर सकता है—अन्यथा नहीं। प्राचीन काल में सामुदायिक जीवन बिलकुल सुखमय नहीं था। प्राण-धारण करने के लिये जन-जाति के एक-एक सदस्य को प्रतिकूल प्रकृति और विरोधी समुदाय वालों से सदैव लड़ना-भिड़ना पड़ता था। ऐसी दशा में मानव हृदय में छिपे हुए सद्‌गुणों या उच्च भावनाओं को विकसित करने की गुंजाइश कम होती थी। इसीलिये सामुदायिक धर्म आध्यात्मिक नींव पर आधारित नहीं होता था। जिस मनुष्य के खाने का भोजन, टिकने का स्थान और पहनने के वस्त्रादि का ठीक-ठिकाना नहीं, वह दार्शनिक तथ्यों का आविष्कार कैसे कर सकता था?

यायावर की वृत्ति त्याग कर जब से मानव खेती बारी करने लगा, तभी से क्रमशः सभ्यता का विकास होने लगा। भोजन और निवास-स्थान का ठिकाना

हो जाने के बाद निरंतर आबादी बढ़ती गयी, बस्ती और नगरों की नींव पड़ी तथा समाज का संघटन हुआ। जीवन रक्षा करने की समस्या का हल होते ही मानव के हृदय में चिन्ता-शक्ति का विकास हुआ। क्रमशः भिन्न-भिन्न जन-जातियों के एक साथ मिलने से अलग-अलग जातियों का संघटन हुआ। कभी-कभी बाहरी चढ़ाई करने वालों के वार से आत्म-रक्षा करने के अभिप्राय से भिन्न-भिन्न समुदायों के मिलने से जातियों की उत्पत्ति होने की बात भी सुनने में आती है।

जाति का संघटन होते ही जीवन-यात्रा-पद्धति में जटिलता आ जाती है। सामुदायिक जीवन में विचित्रता नहीं, न तो काम-काज का ही विभाजन है। प्रयोजन होने पर एक ही मनुष्य शिकार करता, हल जोतता, वस्त्र बुनता फिर समय की पुकार आते ही वही मनुष्य सज-धजकर युद्ध करने जाता है। परंतु जातीय जीवन का संघटन होते ही क्रमशः काम-धन्धों का विभाजन होता है। इस प्रकार हमारे देश में व्यवसाय के अनुसार क्रमशः भिन्न-भिन्न जातियों का संघटन हुआ। ऊपर कहा जा चुका है कि यजुर्वेद के संकलन के समय में भारतीय आर्यों के समाज में वर्ण-व्यवस्था ठीक रीति से चालू हो गयी थी। उसी स्रोत से पता चलता है कि पेशे के अनुसार अलग-अलग जातियों का भी थोड़ा-बहुत संघटन होने लगा था। ये जातियाँ अधिकतर संकर या आर्येतर थीं। अतः आर्यों की प्रधानता स्थापित हो जाने पर हमारे देश में आर्यों के तीन वर्ण तथा शूद्रों के अतिरिक्त बहुत-सी संकर जातियाँ थीं जो मुख्यतः व्यावसायिक थीं, तथा बहुत-सी आर्येतर जन-जातियाँ भी थीं जो अन्त्यज या बाह्य अर्थात् आर्यों के सामाजिक घेरे के बाहर मानी जाती थीं। अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि आर्यों के समाज के तीन उच्च वर्ण के सदस्यों के अतिरिक्त शूद्रों से लेकर प्रायः सभी समुदाय वाले अपने बाप-दादा के प्राचीन सामुदायिक धर्मों को मानते थे, क्योंकि आर्यों के धार्मिक कृत्य में वे भाग नहीं ले सकते थे और धर्म के मामले में लोग अधिकतर अनुदार होते हैं।

प्राचीन यूनान, रोम तथा मिश्र के इतिहास से पता चलता है कि जब कुछ समुदायों के मिलने से जाति का निर्माण होता है, तब उन जन-जातियों का

सम्मिलित धर्म-विश्वास ही उस जाति का जातीय धर्म बनता है। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि विजित समुदाय वाले विजयी जन-जाति के देवताओं के अपनाते हैं। इसका कारण संभवतः यह होगा कि विजित समुदाय वालों के मन में ऐसी धारणा होती होगी कि विजयी जन-जाति के देवता हमारे देवताओं से अधिक शक्तिमान् होंगे, तभी तो उन्होंने हमें जीत पाया!

किसी जाति के बनने पर नव जागरण, नयी चेतना, नूतन आशा और नवीन आकांक्षाओं की उत्पत्ति होती है। प्राचीन काल के सामुदायिक देवता इस माँग की पूर्त्ति नहीं कर सकते थे, क्योंकि प्रकृति के वे अधूरे, तथा किसी विशेष स्थान से वे संबद्ध होते थे। अतः जातीय माँगों को पूरी करने के लिये तथा उसकी बढ़ती हुई आवश्यकताओं को निभाने के लिये कुछ नये देवताओं की सृष्टि हुई। ये सब अधिकतर प्राचीन देवताओं पर आधारित किये गये, क्योंकि जब प्राचीन की नींव पर नवीन की जड़ जमे तभी उसे विकास कहा जाता है। पुनश्च धर्म का प्रभाव बनाये रखने के लिये निचली परत के आधार पर ही उच्च स्तर की इमारत खड़ी करनी पड़ी। प्रत्येक देवता के चरित्र में कुछ विशिष्टता लायी गयी; अपने-अपने विभाग के वे आदर्श माने गये तथा उनके क्षेत्र का भी विस्तार हुआ। आगे चलकर जातीय जीवन में जैसे-जैसे जटिलता की अभिवृद्धि होती गयी, तैसे-तैसे अन्यान्य अभिनव देवताओं का आविर्भाव होने लगा; इस रीति से संसार की प्राचीन जातियों में बहु देवताओं को पूजने की प्रथा चल निकली। क्रमशः मानव समाज के ढाँचे पर देवताओं के सामाजिक संघटन की अटकल भिड़ायी गयी तथा देवताओं में कुछ तो उच्च श्रेणी के, पुनः कुछ निचले दर्जे के माने गये। कालान्तर में जैसे-जैसे जाति के संघटन का काम पूरा होता गया तैसे-तैसे उसके देवताओं की पूजन-पद्धति में भी एक-रूपता स्थापित होती गयी। पूजन-पद्धति की एक-रूपता में ही जातीय एकता सूचित होती है। इस प्रकार किसी भी जाति के जीवन में विरोधी शक्तियों से उसका संघर्ष, उसकी आशा, उसकी आकांक्षा, उसका उद्यम, थोड़े में उसकी सामूहिक प्रतिभा का प्रतीक है उसका जातीय धर्म।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि जातीय धर्म की विशेषताएँ निम्नांकित थीं—

(१) जातीय देवताओं के चरित्र का स्पष्टीकरण हुआ तथा प्रत्येक पर जातीय जीवन के एक-एक क्षेत्र का भार सौंपा गया। देवता तथा उनके पूजने वालों में वैयक्तिक संबंध स्थापित किया गया।

(२) सभ्य समाज में रहने तथा बसने के कारण मानव चरित्र में नैतिक उन्नति होने के साथ-साथ देवताओं का चरित्र केवल आदरणीय ही नहीं, अपितु आदर्श बनाने का प्रयत्न किया गया। किसी भी जाति के देवताओं का चरित्र जातीय चरित्र का जीता-जागता प्रतीक है; जाति की प्रवृत्ति और रुचि का मूर्त्त प्रभाव पड़ता है उसके देवता का चरित्र और पूजा-पद्धति पर।

(३) देवताओं का निवास-स्थान, मिट्टी की बनी हुई इस धरती से उठ कर उसके कहीं ऊपर, स्वर्ग माना गया। जागतिक प्रपंच से वे परे माने गये। प्रारंभिक दशा में यूनान की देव-देवियाँ झाड़ जंगल तथा नदी-नाले की अगल-बगल रमती फिरती थीं, किन्तु जातीय धर्म बन जाने पर उनको बादलों से ढकी हुई ओलिम्पस् पहाड़ की चोटी पर भेज दिया गया; यहूदियों के जीहोवा शुरू-शुरू में बूढ़े पितरों से बात-चीत करते तथा इस कठिन पृथ्वी पर पैदल चलते फिरते थे। किन्तु जाति का संघटन हो जाने पर वही जीहोवा आँखों से ओझल हो गये—तथा कल्पना के राज्य में रमते फिरने लगे। वैदिक काल के आर्य यज्ञ-स्थल पर बिछाये हुए कुश पर इन्द्र-अग्नि-वरुण-सोम प्रमुख देवताओं को बैठा कर सोम पिलाते थे। परन्तु बाद में कठोर तपस्या तथा साधना करने पर ही देवताओं के दर्शन मिलने लगे।

(४) पूजन की प्रणाली में कुछ करुणा और कोमलता का भाव दिखाई देने लगा। सामुदायिक धर्म में प्रायः नर-बलि इत्यादि चढ़ाने की प्रथा थी। प्राचीन यूनान में ल्यूकेडिया अन्तरीप की ऊँचाई पर से प्रति वर्ष एक मनुष्य को समुद्र में ढकेल कर बलि चढ़ाने की रीति थी। हमारे देश में भी व्यापक रूप से नर-बलि देने की प्रथा थी। ऐतरेय ब्राह्मण में शुनःशेपका आख्यान में इसका प्रमाण मिलता है। किन्तु जातीय धर्म के संघटित होने के साथ-साथ

नर-बलि की प्रथा प्रायः ठप हो गई। उसके स्थान में पशु-बलि या फल-फूल बलि चढ़ाने की रीति चल निकली। सती चबूतरे प्रभृति पीठों पर रक्खे हुए पत्थर के ढोंके प्रारम्भ में बलि चढ़ाये हुए पशुओं के लहू से रँगने की प्रथा थी; अब उन पर सेंदुर पोता जाने लगा;

(५) सामुदायिक धर्मों के मानने वाले अधिकतर प्राकृतिक चमत्कार या देवताओं को पूजते थे। जातीय धर्म का प्राकृतिक तत्वों से संबंध क्रमशः ढीला पड़ जाता है। प्रारम्भिक दशा में समुदाय वाले वृक्ष-देवता को पूजते थे, परन्तु अब वे किसी देवता के प्रतीक माने गये। जैसे हमारे देश में बरगद, पीपल और तुलसी नारायण तथा बेल शिव जी के प्रतीक माने जाते हैं।

जातीय धर्म संघटित होने पर सुरम्य मन्दिर बना कर देवताओं की सौम्य मूर्तियाँ पूजने की प्रथा चल निकली। ऊपर कहा जा चुका है कि वैदिक काल में संभवतः मन्दिर बना कर मूर्तियों को पूजने की रीति नहीं थी। अग्न्यागार में रखी हुई[1] होमाग्नि में आहुति देकर आर्य लोग देवताओं को मना लेते थे। मन्दिरों में मूर्तियाँ पधरा कर उन्हें पूजने की रीति उत्तर काल में चल निकली। रामायण और महाभारत में देवायतनों का बहुधा उल्लेख हुआ है। राज-भवन तथा राजधानी में वे बनाये जाते थे। लोग यथा रीति उन में रखी हुई मूर्तियों की अर्चा करते थे। परन्तु रामायण के अरण्य काण्ड में अगस्त्य ऋषि के आश्रम का वर्णन है। इस प्रसंग में कहा गया है कि वहाँ ब्रह्मा, अग्नि (रुद्र), विष्णु प्रमुख बहुत-से देवताओं के 'स्थान' थे[2]। 'स्थान' और मन्दिर में आकाश-पाताल का अन्तर है। ऐसी दशा में अनुमान किया जाता है कि भिन्न-भिन्न देवताओं के नाम से थोड़ी-थोड़ी जगह छोड़ दी गई थी। यह भी संभव है वहाँ झाड़-जंगल जमे होंगे। हर्ष चरित में चंडिका कुंज, चामुण्डा मंडप इत्यादि का उल्लेख हुआ है[3]। अभी तक देहाती क्षेत्रों में झाड़ियों के बीच में से बाँस पर लहराते हुए लाल रंग के झँडे देव-स्थान की सूचना देते हैं।

---

[1] गोभिल गृह्य सूत्र, १।४।९; [2] ३।१२।१७-२१;
[3] २।६२;७।२०४;

कहने का उद्देश्य यह है कि प्रायः सभी प्राचीन देशों में मन्दिरों का सूत्रपात इस रीति से हुआ था। आगे चलकर मानव अपने देवताओं के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के लिए सुरम्य मन्दिर बनवाये जो सुन्दरता, भव्यता तथा कारीगरी के विचार से अनुपम माने गये।

मंदिरों के बनने के प्रारंभिक इतिहास में यदि कोई विचित्रता नहीं पाई जाती है, तो मूर्ति-निर्माण के शिल्प का प्राचीन इतिहास भी बिलकुल रोचक नहीं। नगरों की तिरमुहानी और चौमुहानियों के एक कोने किसी छायेदार पेड़ के नीचे पक्के चबूतरे पर सेंदुर पोता हुआ पत्थर का ढोंका कभी-कभी देखने में आता है। देहाती क्षेत्रों में वही ढोंका कभी-कभी खेत की चहारदिवारी के ताक पर रख दिया जाता है। मूर्ति-निर्माण-कला का ही श्रीगणेश था। फिर दूसरी दशा में बिलकुल सीधी-सादी मूर्तियाँ, जैसी लिंग मूर्ति और योनि मूर्तियाँ बनी। अंत में अनवद्य, सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ बनने लगीं जिन्हें देख कर अभी तक लोग अचंभा करते हैं। मत्स्य पुराण[1], अग्नि पुराण[2] और भविष्य पुराण[3] इत्यादि में मूर्ति-निर्माण के विस्तृत निर्देश मिलते हैं। भासे के 'प्रतिमा' नाटक में इस कला का कुछ आभास मिलता है।

इस प्रकार मन्दिर बना और उनमें मूर्तियाँ पधरा कर धर्म की नींव पक्की कर दी गई। साथ-साथ पूजन संबंधी विस्तृत पद्धति की रचना हुई। तब पुजारी की आवश्यकता हुई जो निश्चित ढङ्ग पर मूर्ति की अर्चा कर सके। सौभाग्यवश हमारे देश में वैदिक काल से ही पुरोहितों का बड़ा प्रभावशाली समुदाय था जिसके आगे राजा महाराजाओं को भी झुकना पड़ता था। प्राचीन चीन, रोम तथा यूनान में पुरोहितों का प्रभाव जमने नहीं पाया क्योंकि वे या तो राज-कर्मचारी होते थे, या थोड़े दिनों के लिए नियुक्त किए जाते थे। प्रत्युत ईरान, बेबिलोनिया, इजरायेल और मिश्र के पुरोहित हमारे देश के पुरोहितों के समान शक्तिशाली हो गये। प्रारंभिक दशा में हमारे देश में केवल ब्राह्मणों

[1] २६०।१.....; [2] ४३।१०.....; [3] मध्यम पर्व, १।१२;

की सामाजिक स्थिति कुछ हीन-सी थी[1]। किन्तु मूर्ति-पूजन की प्रथा के प्रसार के साथ-साथ इनकी दशा सुधरती गई। मूर्ति-पूजन के विधि-विधान और नियम-पद्धति का अक्षरशः पालन कर पुरोहित लोगों ने हिन्दू धर्म को सनातन बनाने में बड़ी सहायता की है। किन्तु साधारणतया देखा जाता है कि वे विचार के कुछ अनुदार होते हैं। धार्मिक तथा सामाजिक विषयों में वे सुधार का विरोध करते हैं। अतः सुधारवादी पैगंबरों से इनकी कम पटती है।

हिन्दू-धर्म

प्राचीन पृथिवी के भिन्न-भिन्न उन्नत देशों में जातीय धर्म का विकास जिस रीति से हुआ था, उसका थोड़ा बहुत दिग्दर्शन ऊपर कराया गया। इस दृष्टिकोण से विचार करने से हमारे हिन्दू धर्म को, जिसे हम सनातन मानते हैं, जातीय कहना पड़ता है। हिन्दू धर्म 'भक्ति' शब्द में केन्द्रित है। पुनः 'भक्ति' शब्द ऐसा व्यापक है कि वैदिक धर्म के सभी मोटे-मोटे सिद्धान्त जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, इसके प्रशस्त घेरे में खप जाते हैं। एकेश्वरवाद, त्याग की भावना, भूत-दया, धार्मिक सहनशीलता सभी कुछ भक्त के लक्षण माने जाते हैं। सबसे बड़ा त्याग जो एक भक्त के लिये करने की आवश्यकता है, वह है आत्माभिमान को भूल कर अपना सर्वस्व इष्टदेव के चरणों में समर्पित करना; एक की शरण में जब तक वह पहुँचता नहीं तब तक वह भक्त नहीं बन सकता; अहिंसा व्रत का पालन कर वह अपने हृदय में भूत दया की भावना को विकसित करता है और समग्र विश्व के निवासियों से प्रेम का बर्त्ताव कर वह धार्मिक सहनशीलता का परिचय देता है। मूर्ति-पूजन की प्रथा चल पड़ने पर बौद्ध और जैन मत के अनुयायियों के प्रति यही मंतव्य लागू है।

यह तो मानी हुई बात है कि हिन्दू धर्म में समय समय पर जातीय आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए करोड़ों देवता जुट गये हैं और सैकड़ों धार्मिक सम्प्रदायों का संघटन हुआ है। तथापि मोटे तौर पर कहा जा सकता है

---

[1] मनु, ३।१५२ : पद्म पुराण, सृष्टि खंड, ४७।२१;

कि हिन्दू धर्म के अनुसार कुल पाँच ही देवताओं को पूजने की प्रथा है, और वे हैं—शिव, शक्ति, विष्णु, गणेश और सूर्य। ये पाँचो देवता 'क्षित्यम् तेज मरुद्व्योम' नाम के पञ्च तत्वों पर आधारित माने जाते हैं। पुनः इनमें से तीन, अर्थात् शिव, शक्ति और विष्णु के अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक है। तदनुसार सारी हिन्दू जाति तीन बड़े बड़े धार्मिक सम्प्रदायों में विभक्त है—शैव, शाक्त और वैष्णव। परन्तु चाहे शैव हो या शाक्त, और चाहे वैष्णव ही क्यों न हो—पूजने वाला अपने इष्ट देव को बीच में रख कर शेष चारों को आवरण देवता मानते हुए पाँचों के प्रति श्रद्धा निवेदन करता है। सर्वोपरि जो जिस देवता का भक्त है, वह उसी को सृष्टि-स्थिति-लय का कारण मानता है। इस प्रकार इस पद्धति का अनुसरण कर हिन्दू धार्मिक सहनशीलता की भावना बढ़ाते हैं और साथ ही एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं।

यह तो है भीतरी बात। ऊपरी तौर पर हिन्दू धर्म के प्रशस्त घेरे में आदिम निवासी जन-जातियों के प्राकृतिक तत्त्वों को पूजने की रीति प्रचलित है; महत्व न रह जाने पर भी इन्द्र, वायु, वरुण प्रमुख देवताओं को थोड़ी-बहुत मान्यता मिली है; सूर्य और सावित्री की अभी तक उपासना की जाती है; परिपूर्णता प्राप्त करने के प्रसंग में बौद्धों का बोधिसत्ववाद और अपने मत के प्रसार के अभिप्राय से जैनियों का तीर्थंकर वाद प्रभृति आन्दोलनों से पाला देने के लिए धर्म के क्षेत्र में गड़बड़ी का नाश करने के उद्देश्य से अवतार वाद की रचना हुई; पुनः अर्ध-सभ्य, जंगली जन-जातियों तथा तांत्रिक बौद्ध मत के अनुयायियों के आ मिलने पर शक्ति-पूजन के विधि-विधान में उलट-फेर हुए, सर्वोपरि रुद्र, विष्णु प्रमुख वैदिक देवताओं के चरित्र में हेर-फेर करके उनको केन्द्र मानते हुए भक्तिवाद का प्रचार हुआ; अन्त में जातीय जीवन की जटिलता के साथ कदम मिलाकर चलने के लिए स्कंद, गणेश, काम, लक्ष्मी, सरस्वती प्रमुख पौराणिक देव-देवियों का आविर्भाव हुआ।

इस प्रकार एकेश्वरवाद में विश्वास करते हुये भी अनेक देवताओं का पूजन; ज्ञान-मार्ग से घृणा न करते हुये भक्तिवाद का सक्रिय समर्थन; हिंसा मत की निन्दा न कर अहिंसा धर्म का पालन; वैदिक काल में प्रचलित यज्ञ-हवन की

बुराई न कर जप, कीर्त्तन, स्नान, तीर्थ-यात्रा प्रभृति क्रिया द्वारा भक्तिवाद का प्रचार, तथा तप और यौगिक प्रक्रिया का अनादर न कर भाव-भक्ति को प्रोत्साहन दिया गया। थोड़े में यही है हिन्दू धर्म की विशेषता, जो मुक्ताकाश के समान उदार है तथा सर्व-सहा धरती माता की भाँति सहनशील है।

इस रीति से भिन्न-भिन्न रुचि के भारतीयों का हृदय धार्मिक एकता की सुनहरी जंजीर से जकड़ने के लिये गुप्त-वंशी सम्राटों के शासन-काल में इस धर्म को राष्ट्र की ओर से परोक्ष रीति से मान्यता मिली। पुनः इस एकता के भाव को पुष्ट करने के लिए स्नान, तीर्थ-यात्रा तथा महायानियों से टक्कर लेने के लिए मेले और उत्सवों का समावेश किया गया। भिन्न-भिन्न देवता तथा तीर्थ-स्थानों का माहात्म्य और आदर्श नर-नारियों की कृतियों का वर्णन करते हुये इतिहास (रामायण और महाभारत) और पुराणों की रचना हुई, और विकृत बौद्ध मत के मानने वालों के भ्रष्टाचार से विध्वस्त प्राचीन समाज को नये सिरे से संघटित करने के लिए स्मृतियों का संकलन हुआ। गुप्त-काल के शिला लेखों पर इनकी अमिट छाप देखने में आती है।

इस प्रकार हिन्दू धर्म के रूप में एक जातीय धर्म के आविर्भाव के साथ-साथ नाग पंचमी, दीवाली, होली प्रमुख उत्सवों का जातीयकरण हुआ तथा हजारों आँधी-तुफान आ पड़ने पर भी हिन्दू धर्म ने डट कर उनका सामना किया, क्योंकि प्रत्येक हिन्दू इनको मनाते समय मन ही मन गर्व का अनुभव करता है कि मैं हिन्दू हूँ। थोड़े में अन्यान्य तत्वों के साथ इन्हीं उत्सवों ने हिन्दू धर्म को सनातन बना रखा है तथा यावच्चन्द्रदिवाकर की भाँति इसका ठाट-बाट सर्वथा बना रहेगा—ऐसी आशा की जाती है क्योंकि स्वभावतः वह उदार एवं सहनशील है।